कुछ उथले
कुछ गहरे

कुछ उथले
कुछ गहरे

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

मूल्य : आठ रुपये

राजपाल एण्ड सन्ज़ से पहला संस्करण, 1974

◆ ◆ ◆

KUCHH UTHLE KUCHH GAHRE
(Humour & Satire),
by Dr. Indarnath Madan
Rs. 8.00

व्यक्तिगत निबन्ध

जब सुबह उठते ही शीशे में (शीशा बढ़िया है) अपनी सूरत देखता हूँ तो बनाने वाले को कोसता हूँ। जब नहा-धोकर फिर शीशे की सहायता लेता हूँ तो इतना बुरा नहीं लगता जितना लोग समझते हैं। यही विचार इन निबन्धों के बारे में है।

—इन्द्रनाथ मदान

क्रम

कुछ
उथले
कुछ
गहरे

समस्याओं के घेरे में

यदि मध्य युग प्रश्नों का था तो आधुनिक समस्याओं का कहा जा सकता है। सरलता प्रश्नों को जन्म देती है और जटिलता समस्याओं को। पौराणिक युग में तरह-तरह के सवाल पूछे जाते थे, अनेक शंकाओं को उठाया जाता था। सब सवालों के जवाब दिये जाते थे और सब शंकाओं का समाधान हो जाता था। अन्त में सब का मन शान्त हो जाता था। यह शायद इस लिए कि पुराने युग की मानसिक स्थिति बचपन की थी। मैं भी बचपन में अपने बड़ों से हर तरह के सवाल पूछा करता था—"आसमान में सितारे घूमते क्यों हैं, आदमी मर क्यों जाता है, पुराने साल का अन्त क्यों हो जाता है, ख़ुदा सातवें आसमान में क्यों रहता है, भगवान दूध के सागर में क्यों रहता है, मरने के बाद इन्सान कहाँ जाता है, बच्चा कहाँ से आता है?" मेरे माँ-बाप तो अकसर चुप रहते थे, लेकिन चाचा से मुझे हर प्रश्न का उत्तर मिल जाता था, जो सन्तोष भी देता था। मैं चाचा को माँ-बाप से लायक़ मानता था। मध्य युग भी शायद मेरी तरह शिशुता की स्थिति में था। मुझे याद है कि एक बार इन्सपेक्टर साहब मेरे गाँव का स्कूल देखने आए। उस दिन मास्टर साहब ने भी उजले कपड़े पहन रखे थे और बड़े जोश में वह जमात को भूगोल पढ़ा रहे थे। वह मेरे चाचा की तरह लायक़ थे, हर मज़मून पढ़ा लेते थे। वह कह रहे थे—"इस तरह सूरज ३६५ दिनों में ज़मीन का एक बार चक्कर काटता है और साल का अन्त हो जाता है और हर चार साल के बाद वह जब थोड़ा थक जाता है तो एक दिन अधिक लगा देता है। इसे लीप का साल कहते हैं।" इन्सपेक्टर साहब ने जब यह सुना तो वह मास्टर साहब के मुँह की तरफ़ ताकते हुए कहने लगे—"यह कहाँ का भूगोल है!" मेरे मास्टर साहब ज़िन्दगी में हार कर भी बातों में हारने वाले नहीं थे। वह एकदम कहने लगे—"जनाब, बीस का वेतन पाता हूँ। अगर आप तीस कर दें तो ज़मीन को सूरज के चारों तरफ़ घुमा सकता हूँ।" इन्सपेक्टर साहब क्यों मुसकरा कर चल दिए, इस का मुझे पता नहीं चला, परन्तु इतना समझ में आ गया कि सूरज और धरती दोनों एक-दूसरे के गिर्द घूम सकते हैं या

घुमाये जा सकते हैं। आज मन की इस सरलता का लोप हो गया है, इसे जटिलता ने घेर लिया है। आज हर प्रश्न टेढ़ा हो कर समस्या बनता जा रहा है और समस्याओं से जीवन घिर गया है। इन का समाधान नहीं हो पा रहा है। इस लिए कभी-कभी जी चाहता है कि बचपन या पौराणिक युग में लौटा जाये; लेकिन यह सम्भव नहीं है। इस तरह लौटने में आज का विज्ञान बाधा बन कर आता है। कभी-कभी मुझे उन लोगों से रश्क होता है, जो आज भी अपने बचपन में हैं। इन के चेहरों पर न तो हैरानी दिखती है और न ही परेशानी। इन की सेहत भी बेहतर है। मैं ने पौराणिक सरलता को खो कर क्या पाया है, आधुनिकता से क्या लाभ उठाया है ! अपने चेहरे पर जटिलता की लकीरों को गहराने के सिवा और क्या फ़ायदा उठाया है !

●

इस तरह मेरा जीवन आज छोटी-बड़ी समस्याओं से घिरा रहता है। छोटी समस्या कभी बड़ी से अधिक परेशान कर देती है। आज तेल का न होना भगवान के होने या न होने से अधिक हैरान कर डालता है, चावल का न मिलना मोक्ष के मिलने या न मिलने से अधिक तंग कर देता है। पुरखे कितने सुखी थे, चिन्ता से कितने मुक्त थे ! आकाश के खुलेपन में या पेड़ों की छाया के नीचे बैठ कर ब्रह्म और माया पर वाद-विवाद कर लेते थे। आज यदि मैं अतीत में जीना चाहता हूँ तो इसे बैसाखियों के सहारे जीना कहा जाता है, जीवन से पलायन का नाम दिया जाता है, आधुनिक बोध के खिलाफ बताया जाता है, विज्ञान का अस्वीकार घोषित किया जाता है। इस तरह अतीत स्मृति की तरह जीवन के विकास में बाधक कहा जाता है। यह जागना नहीं, सोना है, लेकिन बिना सोने के जागना किस तरह हो सकता है, बिना रात के दिन का सामना किस तरह हो सकता है, बिना सपनों के जीवन को किस तरह ढोया जा सकता है ! इसे भी एक समस्या का रूप दिया जाता है। मध्य युग में जब व्यक्ति मर जाता था तो यह कहा जाता था कि वह वास्तव में मरा नहीं है। उस की अमर आत्मा ने नया चोला पहन लिया है। इस से मन को थोड़ा सन्तोष मिलता था; थोड़ा इस लिए कि उस की आत्मा की शान्ति के लिए भगवान की मिन्नत भी करनी पड़ती थी। जन्म-जन्मान्तरों का मनगढ़न्त सिद्धान्त मन को बहलाने के लिए क्या बुरा था ? आज आत्मा अपना सूट नहीं बदल सकती। चोला ढीला था और सब के काम आ जाता

था, लेकिन सूट यदि फ़िट न हो तो बेकार हो जाता है। यह विचार कितना खूब-सूरत था कि ज़िन्दगी असली है और मौत नक़ली। मौत को कभी नींद कहा गया, कभी क़यामत तक इसे क़ब्र में सोना कहा गया तो कभी आत्मा को अमर कह कर 'जनम-जनम के साथी' का गीत गाया गया। आज इस विचार का भी गला घोंट दिया गया है। मृत्यु को वास्तविक कहा जाता है। यदि यह वास्तविक है तो जीवन विसंगत हो जाता है। इस लिए आज जीवन भी विसंगति के रूप में समस्या बनता जा रहा है। मेरे एक कवि-मित्र जीवन को जीने के बजाय इस विसंगति की समस्या में बिता कर अधिक उदास हो गये हैं :

"किसी ने मुझे अजनबी कहकर पुकारा है
किसी ने मेरी नियति को अभिशप्त ठहराया है
कभी मैं बाहर का आदमी माना जाता हूँ
कभी विसंगत पुरुष के नाम से जाना जाता हूँ
इस प्रक्रिया में मैं सिमट कर
वर्णमाला का एक अक्षर—
मात्र 'क' रह गया हूँ
आरोपित नामों की भीड़ में
मैं अनाम हो गया हूँ
पहले से अधिक उदास हो गया हूँ।"

●

इस तरह विसंगति की यह समस्या मुझे भी बुरी तरह घेर लेती है। यदि समस्या एक हो तो छुटकारा पाने की सोच सकता हूँ; लेकिन जब समस्याएं ही समस्याएँ हों तो अभिमन्यु की तरह इन के चक्रव्यूह में घिर जाने के सिवा और चारा ही क्या है। एक और मित्र हैं जो खान-पान को भी समस्या बना डालते हैं। वह खाने की मेज़ पर हर पकवान को विटामिन की तुला में तोलने लगते हैं। वह कभी आलू का निषेध करते हैं, तो कभी दाल का। वह दाल से भात खाने को अन्न से अन्न खाना कहते हैं। इन की बात मैं इस लिए मान लेता हूँ और इसे समस्या बनने नहीं देता कि इन के भाव हर रोज़ बढ़ते ही जाते हैं। वह घास खाने की बात भी करने लगे हैं। इस में विटामिन सी पाया गया है। इस तरह क्या खाना है या क्या पीना है, इस पर वह शोध करते रहते हैं और इसे समस्या

का रूप दे डालते हैं। एक और सज्जन हैं जो समस्त संसार की चिन्ताओं से उदास हो जाते हैं। एक चलते-फिरते ज्ञानकोश की तरह वे छोटी-बड़ी घटना या सूचना में अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को खोज निकालते हैं। यदि वह घर की समस्याओं की उपेक्षा करते हैं तो इस लिए कि व्यक्तिवाद में उन की आस्था नहीं है। इस तरह छोटी-बड़ी बात को वाद में बदल कर वह उसे समस्या बना डालते हैं। इस तरह मेरा जीवन या तो समस्याओं से घिरा रहता है या समस्या-मूलक व्यक्तियों से।

●

आज की कविता-कहानी को भी समस्या के रूप में निरूपित किया जाने लगा है। यदि कविता-कहानी कभी-कभी पढ़ने को मिलती है तो इन के बारे में हर साल एक नया नारा सुनने को अवश्य मिल जाता है। आनन्द नारायण मुल्ला की कुछ पंक्तियां बरबस गूंजने लगती हैं :

"दुनिया के वही क़िस्से हैं मगर उनवान बदलते जाते हैं,
फ़ितरत क़ायम है अपनी जगह इन्सान बदलते जाते हैं।
फ़ितरत के तक़ाज़ों पर पहरे हैं आज भी रस्मोईमां के,
क़ैदी के फ़क़्त बहलाने को दरबान बदलते जाते हैं।"

इस तरह ये नारे, नये उनवान और नये दरबान हैं जो फ़क़्त जी को बहलाने के काम आ सकते हैं। कविता-कहानी की समस्याएँ इतनी उलझती जाती हैं कि इन का सुलझाना मुश्किल हो रहा है। आज की अधिकांश कहानियाँ कभी निबन्धात्मक कथाएँ लगती हैं तो कभी कथात्मक निबन्ध। मुझे यह भी डर है कि कहीं इस तरह का लेख, जिसे मैं निबन्ध भी नहीं समझता, कहानी न बन जाये। यदि यह भूल से कहीं कहानी की कोटि में आ गया तो कहानी की समस्या उसी तरह उलझ जायेगी जिस तरह आज की अधिकांश कविताएँ वक्तव्य हो कर भी कविता के अनेक नाम और रूप धारण कर रही हैं। इस तरह आज हर चीज़, हर बात, हर रचना एक समस्या बन कर मेरे जीवन को बुरी तरह घेरे हुए है।

आवाज़ों के घेरे में

आवाज़ों से बुरी तरह घिर गया हूँ। यह घेरा महाभारत के चक्रव्यूह से भी अधिक टेढ़ा-मेढ़ा है। इस से छुटकारा किस तरह पा सकता हूँ! ग़म से नजात पाने की बात तो ग़ालिब ने की है, लेकिन इस घेरे से नजात पाना कहीं नहीं लिखा है। सुना है कि मरने के बाद भी आवाज़ें आती रहती हैं। मेरी जान अनेक तरह की आवाज़ों की शिकार है। इन्हें झेलने के सिवा और चारा ही क्या है; क्योंकि इन से जूझने के लिए मेरे पास शक्ति भी नहीं है। अगर मुझ में झेलने के साथ जूझने की भी शक्ति होती तो लेख लिखने की बजाय शायद नयी कविता करता या नयी कहानी लिखता। सुबह से ले कर रात को सोने तक हर तरह की आवाज़ों को सुनना पड़ता है। सोने तक इस लिए कि नसीबों में अभी नींद है और सोता भी घोड़े बेच कर हूँ। यदि नसीब बिलकुल खोटे होते तो रात-दिन आवाज़ों को सुनते-सुनते शायद पागल हो गया होता। इन आवाज़ों की अगर गिनती करने लगूं तो इन के बारे में कुछ भी कहना कठिन हो जाये।

●

सुबह उठते ही पहले अखबार की आवाज़ सुनने को मिलती है। अगर एक अख़बार में छुट्टी है या उस ने मौन धारण कर रखा है, तो दूसरे की आवाज़ सुबह दरवाज़ा खटखटाती है। यह जानता हूँ कि अगर कुछ रोज़ इसे अनसुना कर दूं तो जीवन में विशेष अन्तर भी नहीं पड़ेगा। एक बार दस दिनों के लिए, जब बाहर गया हुआ था, अखबार पढ़ने को नहीं मिला। जब घर लौटा तो इन के अम्बार को बिना उलट-पुलट किये रद्दी-टोकरी में डाल दिया और महसूस किया कि दुनिया उसी बेढंगी चाल से चल रही है। एक ने किसी के मरने का समाचार दिया तो इस पर अफ़सोस ज़ाहिर कर दिया, दूसरे ने जहाज़ के गिरने की खबर दी तो इस पर मुंह थोड़ा लटका दिया, तीसरे ने एक रेल-दुर्घटना की बात की तो इस के बारे में अपनी ओर से केवल इतना कह दिया कि रेल-मन्त्री इस्तीफ़ा देने वाला नहीं है, ताकि मेरे मित्र को यह शक न गुज़रे कि मैं ने अख़बार नहीं पढ़ा है। लेकिन काठ की हांड़ी बार-बार नहीं चढ़ती। यह आवाज़ हर भोर को

सुननी ही पड़ती है। इसे सुनने का इतना आदी हो गया हूँ कि इस के बिना दिन खाली-खाली और जीवन सूना-सूना उस घर के समान लगता है, जहाँ सन्तान बड़ी हो कर अपने-अपने घर को चल देती है। यह जानता हूँ कि हर रोज़ इस आवाज़ में थोड़ा हेर-फेर के साथ यही कुछ सुनने को मिलता है कि जहाज़ कहाँ गिरा है, गोली कहाँ चली है, कौन किस की पत्नी को भगा कर ले गया है, किस महामानव की हृदय-गति एकाएक बन्द हो गयी है, किस ने किस बात के लिए अनशन कर रखा है, कितना सोना कहाँ पकड़ा गया है। लेकिन इस आवाज़ में यह आवाज़ कभी सुनने को नहीं मिलती कि कितनी पत्नियाँ आराम से घर में बोर हो रही हैं, कितने लघुमानव काल-गति को पा चुके हैं, अनशन करने वालों को कितना ग्लूकोज़ दिया जाता है और गोलियाँ चलने पर भी शान्ति में आस्था कितनी गहरी है। इस के अलावा मुझे यह भी जानना पड़ता है कि खेलों में कौन हारा और कौन जीता। यदि इस की जानकारी नहीं रखता तो मेरा खिलाड़ी मित्र मुझ से नाराज़ हो जाता है। वह एक ही विषय पर मुझ से बातचीत कर सकता है। बरसात में सब से पहले मानसून का चित्र अखबार में देखता हूँ, तापमान की सूची पर भी नज़र डालता हूँ। अगर तापमान अधिक हुआ तो गरमी महसूस करने लगता हूँ और अगर वह गिर गया तो कमीज़ पहन लेता हूँ। इस तरह अखबार की आवाज़ से इतना घिरा रहता हूँ कि अपनी या भीतर की आवाज़ सुनने का मौक़ा ही नहीं मिलता।

●

इस आवाज़ के साथ जब रेडियो की आवाज़ मिल जाती है, तब वह शोर बन जाती है। यह इधर-उधर चारों ओर से मुझे घेरे रहती है। इस से छुटकारा पाना भी मुश्किल है। मेरी पड़ोसिन है कि वह बिना रेडियो-संगीत के दाल नहीं बीन सकती, नमक का अन्दाज़ नहीं लगा सकती, रोटी गोल नहीं बेल सकती। अगर किसी दिन उस का रेडियो बिगड़ जाता है या अचानक बिजली बन्द हो जाती है तो उसका मियाँ खाने के समय मेरे यहाँ चला जाता है। मेरा हज्जाम है कि रेडियो के बिना बाल ठीक नहीं काट सकता। और पनवाड़िन के नखरों की बात ही अपनी है। वह इस के बिना पान में इतना चूना लगा देती है कि दो दिन तक उस का असर ज़बान पर रहता है। स्कूल की लड़कियाँ हैं कि वे इस के बिना घर पर हिसाब के सवाल हल नहीं कर सकतीं और कॉलेज की हैं कि वे

स्वेटर बुनने में भूलें कर जाती हैं। बूढ़ा है कि वह बार-बार उन्हीं खबरों को सुनता है। केवल बूढ़ी रेडियो की आवाज़ से इस लिए चिढ़ती है कि इस से बिजली का बिल बढ़ जाता है। इस लिए घर-घर में इस की आवाज़ गूंजती है, बाज़ारों में इस से छुटकारा नहीं मिलता। इस से तंग आ कर कभी-कभी झील की सैर के लिए निकल पड़ता हूँ तो वहाँ भी युवक और युवतियाँ ट्रांजिस्टर हाथ में लिये हुए हैं। इस लिए नगर में बस कर आवाज़ों से मुक्ति किस तरह मिल सकती है।

यदि रेडियो की लगातार आवाज़ को अनसुना करता हूँ तो सड़कें जुलूसों के नारों से गूंजने लगती हैं और गलियाँ फेरीवालों की पुकारों से। पुराना पेपर खरीदने वाला, फल बेचने वाला, जूता गाँठने वाला, खाट बुनने वाला, कुलफ़ी बेचने वाला अपनी-अपनी आवाज़ देता है; जिस को शब्दों से नहीं उस के लहजे से पहचानना होता है। कभी-कभी आवाज़ ऐन दरवाज़े पर लगनी शुरू हो जाती है। फलवाला पुरानी आदत से मजबूर हो कर इस मँहगी के ज़माने में भी मुझे अमीर समझता है। उस का मुंह और अपनी इज़्ज़त रखने के लिए कभी-कभी फल खरीदना पड़ता है। इसे खाता कम हूँ, सँभाल कर अधिक रखता हूँ, ताकि दोबारा आने पर उसे कह सकूँ कि अभी यह मेरे पास है। इन फेरीवालों को सस्ती का ज़माना भूलता ही नहीं है और इन की आवाज़ें कम होने के बजाय बढ़ती ही जाती हैं। अगर कुछ समय इन से चैन मिलता है तो मिलने वाला आ टपकता है और आवाज़ लगा कर इस चैन को तोड़ देता है। अतिथि का काम तो भारतीय संस्कृति के अनुसार बिना तिथि और बिना बिस्तर के आना होता है। इस के स्वागत-सत्कार से पुण्य कमाना होता है। उस की अकेली आवाज़ सब आवाज़ों को ठप्प कर देती है। इस तरह शहर में आ कर इतनी आवाज़ों को सुनना पड़ता है कि इन में अपनी आवाज़ अँधेरे में सुई की तरह खो जाती है, कहीं दबी रह जाती है। इस आवाज़ को सुनने के लिए शान्त वातावरण नगर में किस तरह मिल सकता है; जहाँ इतने शोर और भीड़ें हों। कहीं किसी की शादी का बाजा बज रहा है, तो कहीं किसी के अभिनन्दन का, कहीं राग है और कहीं रंग, कहीं जलसा है तो कहीं जुलूस। इन सब की आवाज़ों के घेरे में बुरी तरह जकड़ गया हूँ। इस से जितना निकलने की कोशिश करता हूँ, उतना ही इसमें फँसता और धँसता चला जाता हूँ। एक अरसे तक मैं घर पर टेलीफ़ोन लगवाने से कतराता

रहा हूँ। इस की आवाज़ से उतना ही कतराता हूँ जितना तार की आवाज़ से घबराता हूँ। पुरानी कहावत के अनुसार बकरे की माँ कब तक ख़ैर मना सकती है। हर आध घण्टे के बाद अब टन-टन की आवाज़ परेशान कर देती है। इस आवाज़ में होता भी क्या है—किस की भैंस ने आज कितना दूध दिया है, किस ने किस को ताश के खेल में हराया है, किस के यहाँ किस की दावत है, आज शाम को कहाँ जाना है। इस तरह की आवाज़ें ही फ़ोन से निकलती हैं।

●

इन आवाज़ों से घिर कर मुझे लगता है कि शहर में आना एक भूल थी। अपने गाँव में कितना चैन था। कभी-कभार कुत्ता भोंक लेता था, पड़ोस में गधा रेंक लेता था, सुबह मुर्ग़ बाँग दे लेता था। मैं गाँव से इस लिए भागा कि वहाँ मरघट का सुनसान था। वहाँ आवाज़ों के लिए तरसता था और यहाँ आवाज़ों के नीचे इतना दब गया हूँ कि किताबों की फुसफुसाहट तक सुनने को नहीं मिलती, अपनी आवाज़ को सुनने की तो बात ही दूसरी और दूर है। इसी लिए शायद ऋषि और मुनि जंगलों और गुफ़ाओं में रहते थे। वे केवल अपनी आवाज़ सुनते थे, हम केवल दूसरों की आवाज़ सुनने के आदी हो चुके हैं। अब गुफा क्या, गाँव में भी जी नहीं लगता। लौटना किस तरह हो सकता है! आगे कहाँ जाना है यह मेरी समझ से बाहर है। अब तो इन आवाज़ों को सुनना ही मेरी नियति है। यह वरदान है या अभिशाप—इस के बारे में भी क्या कह सकता हूँ! आदत पड़ने पर शायद अभिशाप भी वरदान बन जाते हैं।

मशीनों के घेराव में

आज घेरों और घेरावों के दिन हैं। मानव की नियति शायद जीवन में घिर कर अन्त को पाने की है। पहले वह सन्तानों के घेरे में था, और आज वह मशीनों के घेराव में है। इन में भारी अन्तर भी है। सन्तान अपनी पैदावार होती है और मशीन दूसरों की। सन्तान को पालने के लिए इन्सान होना पड़ता है और मशीन को पालने के लिए मशीन। अगर मशीन स्वस्थ रहती है तो सुख देती है; लेकिन सन्तान आज दोनों स्थितियों में दुःख का कारण भी बन सकती है। इस लिए भी घेरे और घेराव में काफ़ी अन्तर है। मैं सन्तानों के घेरे से बच गया हूँ, लेकिन मशीनों के घेराव में आ गया हूँ। मुझे घेराव से डर भी नहीं है। मुझे न तो कोई पद्म-भूषण लौटाना है और न ही गाड़ी का नम्बर नागरी में लिखवाना है। मशीनों के घेराव से डर नहीं लगता, लेकिन इस से परेशानी ज़रूर उठानी पड़ती है। हर रोज़ एक-न-एक मशीन बीमार पड़ जाती है। अगर घड़ी टिक्-टिक् नहीं करती या लय-ताल में टिक्-टिक् नहीं करती तो समय का बोध नहीं रहना। अकाल की स्थिति में रहने की अभी आदत नहीं है। इसे अस्पताल ले जाना पड़ता है। अगर यह राज़ी हो जाती है तो पानी का नल टप्-टप् करने लगता है। इसे अस्पताल नहीं ले जाया जा सकता, इस के लिए तो डॉक्टर को ही घर पर बुलाना पड़ता है। अगर पानी का नल ठीक होता है, तो पानी की नाली बीमार पड़ जाती है, जिस के लिए जमादार को घर पर बुलाना पड़ता है। कभी-कभी नल और नाली दोनों एक साथ अस्वस्थ हो जाते हैं, सहानुभूति के कारण या छूत की बीमारी के कारण, यह कहना कठिन है। यह सुनने में आया है कि एक आदिम जाति में पत्नी जब पीड़ा से कराहने लगती है तो पति भी सहानुभूति के कारण उसी तरह खाट पर लेट कर कराहने लगता है। इन मशीनों के घेराव से निकलते ही तेल का स्टोव जलने से इनकार कर देता है, कभी-कभी दोनों स्टोव एक साथ बीमार पड़ जाते हैं। उस समय गांधीजी शिद्दत से याद आने लगते हैं, लकड़ी-कोयले का युग स्मरण हो उठता है। आधुनिकता को कोसने के सिवा और चारा ही क्या रह जाता है! यह महसूस करने

लगता हूँ कि पेट में जब तक अन्न नहीं पड़ता तब तक फ़लसफ़े खोटे हैं। भगवान का भजन भी खाली पेट नहीं हो सकता। पहले अस्तित्व और इस का सार बाद में, फूल पहले और उस का इतर बाद में।

●

अगर घर में सन्तान की तरह मशीनें दो-चार हों, तो मँहगी के ज़माने में भी किसी तरह गुज़र हो जाती है, लेकिन अगर वैदिक युग के अनुसार इन की गिनती आज दस-बारह हो जाए तो यह स्थिति घेराव की नहीं तो और किस की है? कभी सायकल पंक्चर है, तो कभी घास काटने की मशीन कुण्ठित, कभी बेल-बूटों पर दवा छिड़कने वाला पम्प रिसने लगता है, तो कभी बिजली का बल्ब बुझ जाता है, कभी ताला बिगड़ जाता है तो कभी पेन, कभी चश्मे का शीशा टूट जाता है तो कभी बिजली के पंखे का पंख टेढ़ा हो जाता है, कभी रेडियो बीमार पड़ जाता है तो कभी टेप-मशीन। इन की देख-भाल में ही इतना समय और धन लगाना पड़ता है कि कुछ और करने को रह ही नहीं जाता। इन छोटी-छोटी मशीनों का इलाज खुद कर नहीं सकता। इन के घेराव में आ कर उस पिता की तरह महसूस करने लगता हूँ जो जुकाम के इलाज के लिए डॉक्टर के पास भागता है। एक और नाज़ुक मशीन है, जिस की आवाज़ सांस लेने की तरह अगर लय से नहीं निकलती तो रात की नींद भी हराम हो जाती है। फ्रिज की आवाज जब एकदम बन्द हो जाती है तो नींद अनायास खुल जाती है। अगर घर में बिजली नहीं होती तो सन्तोष की साँस लेता हूँ और अगर बिजली के होने पर यह साँस नहीं लेती तो सुबह इसे अस्पताल भेजना पड़ता है। जब से फ्रिज घर में आयी है, तब से ही बीमार है। एक बार जब यह आ गई है तो इस की देख-भाल करनी ही पड़ती है। और सन्तानों से घिर कर रहने की आदत जब एक बार पड़ जाती है तो इन के बिना जी उदास हो जाता है। यही हाल मशीनों का है। अन्तर यह है कि मशीनें घर में रहती हैं और सन्तानें पंख लगने पर घोंसले से उड़ जाती हैं। बूढ़े माँ-बाप उन पंछियों की तरह बोर होने लगते हैं जो अपनी बोरियत को कम करने के लिए एक दूसरे से चोंचे लड़ा कर कुछ समय के लिए दूरी पर जा बैठते हैं। इस तरह एक-दूसरे को चोंचें मारने, अतीत को ताज़ा करने और पत्रों के इन्तज़ार करने के सिवा इन के पास वक़्त काटने के लिए और साधन ही क्या है! जवान होना तो सब को भाता है, लेकिन बुढ़ाने की कला बिरले ही जानते हैं, ज़िन्दगी और

सन्तान से चिपके रहना तो सब को ग्राता है, लेकिन इन से ग्रलग होना बहुत कम जानते हैं। बिजली के फ़ेल हो जाने पर हाथ के पंखे ग्रौर दीपक से काम चलाना कितना दूभर हो जाता है—यह वही जानता है, जिस के शहर में बिजली बार-बार फेल हो जाती है। वह इस की शिकायत भी नहीं कर सकता। बिजली तथा ग्रन्य उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण में उस का दृढ़ विश्वास है। ग्राज का युग भी ग्रधिकारों को पाने का है, निभाने का नहीं।

●

इस तरह मशीनों के घेराव की स्थिति मेरे लिए सुख की भी है ग्रौर दुःख की भी, बन्धन की भी है ग्रौर मुक्ति की भी। ग्रगर चश्मे का शीशा टूट गया तो पढ़ने-लिखने से कुछ समय के लिए छुटकारा मिल जाता है, बिजली का बल्ब बुझ गया है तो सैर करने का ग्रवसर मिल जाता है, रेडियो बीमार पड़ गया तो ताज़ा खबरों को बासी कर के निगलना होता है, जिस का ग्रपना स्वाद है। बाल काटने की मशीन बिगड़ गयी तो हजामत न बनवाने ग्रौर बाल लम्बे करने का भी ग्रपना सुख है, सायकल पंक्चर हो गयी तो पैदल चलने से सेहत बनने लगती है ग्रौर ग्रास-पास की दुनिया को ग्राराम से देखने का मौक़ा मिल जाता है। ताला बिगड़ गया है तो घर को राम के हवाले किया जा सकता है। सतयुग के संस्कार ग्रभी कलियुग में जीवित हैं। इसी तरह ग्रगर दोनों स्टोव एक साथ बीमार पड़ गये हैं तो उपवास के लाभ भी कम नहीं। ग्रभी तक घड़ी की टिक्-टिक् के बिना समय का ग्रनुमान लगाना नहीं ग्राया। नल की टप्-टप् से भी बड़ी कोफ़्त होती है। एक की ग्रावाज़ के बिना ग्रौर दूसरे की ग्रावाज़ के कारण जीना दुश्वार हो जाता है। नल की टप्-टप् तो निरन्तर रोने वाले शिशु के समान है जिसे माँ ही सँभाल सकती है। ग्राधुनिक माँ के लिए शायद यह कठिन हो, उस की सहनशक्ति कमज़ोर पड़ चुकी है ग्रौर उस के पास कभी-कभी ग्राया भी होती है। टिक्-टिक् ग्रौर टप्-टप् के घेराव से ग्रगर मैं निकल सका तो मेरे लिए यह मोक्ष की स्थिति होगी। यह मोक्ष समाधि लगाने का परिणाम न हो कर समाधि भंग करने का होगा। कामदेव ने शिव की समाधि भंग करने का साहस किया था ग्रौर इस साहस के लिए उसे शिव के तीसरे नेत्र से भस्म होना पड़ा था। मुझे तो केवल ग्रपनी घड़ी तोड़नी होगी, ताकि काल का बोध न रहे, पानी के नल को उखड़वाना होगा, ताकि देश का ग्रहसास न रहे। देश-काल से छुटकारा पाना ही मोक्ष की स्थिति है। मेरे

आधुनिक नगर में अगर कुंआ या तालाब होता तो नल को उखड़वा देता। अब मशीनों के घेराव में या बन्धनों में पड़े रहने के सिवा निकलने का और रास्ता ही क्या है! इन के घेराव के कारण अगर मैं इन्सान और कुदरत की दुनिया से कट कर अकेला और मशीनी हो गया हूँ, तो यही मेरी नियति है। एक छोटा-सा घर और उस में एक छोटा-सा आदमी अगर इस तरह बाहर से कट जाने पर विवश है, तो इस बड़ी दुनिया और मानव-नियति का क्या होगा, जो दानव आकार के कल-कारखानों से घिरती जा रही है और इन के अधीन होती जा रही है।

वहम और वहम

हर इन्सान की तरह मैं भी वहमों के सहारे जीता हूँ। एक वहम टूटने लगता है तो जीने के लिए दूसरा लगाना पड़ता है और कभी-कभी यह लग भी जाता है। इस के लगने और लगाने में भारी अन्तर है। यह जब भूत की तरह लग जाता है तो इस से छुटकारा पाना दूभर हो जाता है। यह कभी-कभी अपने शिकार को मानसिक अस्पताल में भी पहुँचा सकता है। मुझे याद है कि गांव में जब किसी इन्सान को यह लग जाता था तो उसे जंजीरों से बांध कर पीटा जाता था। वह बेसुध हो कर इस से छुटकारा पा लेता था या सदा के लिए बेसुध हो कर जीवन से मुक्ति पा लेता था। इस तरह बड़ा वहम लग जाता है और छोटा लगाया जाता है। इन की इतनी क़िस्में हैं कि गिनती नहीं हो सकती। हर व्यक्ति के अपने-अपने वहम हैं। इन के बिना जीवन सूना हो जाता है। इन के टूटने पर जिन्दगी भारी पड़ने लगती है। इस लिए मुझे वे लोग अधिक भाते हैं जो नया से नया वहम लगा लेते हैं। अगर आधुनिकता की झक में आ कर पौराणिक वहमों को खोया जाता है तो जिन्दगी में अकेलेपन, अजनबीपन, परायेपन की अनुभूति गहराने लगती है जो अधिक परेशान और हैरान कर डालती है। मुझे असंगतियों से घिरे व्यक्ति अधिक पसन्द हैं जो बात तो आधुनिकता की करते हैं और घर में हनुमान की पूजा करते हैं, जो सन्देश तो आत्मिकता का देते हैं और स्वयं भौतिकता में लिपटे रहते हैं, जो उपदेश तो संन्यास धारण करने का देते हैं लेकिन खुद कुरसी से चिपके रहते हैं। सोच कर जीना किस तरह हो सकता है, सोच कर तो मरा जा सकता है। इस लिए वहम लगा कर ही ज़िन्दगी के बोझ को ढोया जा सकता है। क्या बाज़ आसमान में उड़ कर जीने के लिए धरती पर नहीं उतरता ? अगर वह उड़ान नहीं भरता तो वह बीमार पड़ सकता है। इस लिए हर व्यक्ति को जीने के लिए वहम पालने पड़ते हैं।

इन वहमों के बिना बोरियत गहराने लगती है, जीवन नीरस होने लगता है। एक को अपनी सूरत का वहम है। वह इसे पालने के लिए हर वक़्त अपनी जेब में शीशा-कंघी रखता है या अपनी वेनिटी बैग में शृंगार के साधन जुटाये रखता है।

एक और व्यक्ति ने अपने जूतों को साफ़ रखने का वहम लगा रखा है। वह अपनी जेब में इन को साफ़ करने के लिए दूसरा रूमाल रखता है और सड़क पर चलते-चलते खड़ा हो कर इन की धूल उतार देता है। एक तीसरे को अपनी सीरत का वहम है। इसे क़ायम रखने के लिए वह सब से मीठा बोलने की कोशिश करता है, चाहे वह झूठ हो। इस के विपरीत एक और को अपने मुंहफट होने का वहम लगा हुआ है और वह अकारण सब से कड़वी बात करता है। उस ने शायद सच बोलने का ठेका ले रखा है। इसी तरह एक को अगर अपनी लियाक़त का वहम है तो दूसरे को अपनी दौलत का, एक को अगर अपनी कुलीनता का वहम है तो दूसरे को अपनी पदवी का, एक को अगर अपनी नयी कमीज़ का वहम है तो दूसरे को अपने बूढ़े कोट का जिसे उस ने तीस साल पहले बनवाया था और जिस का सानी आज नहीं मिल सकता। अगर दोनों इसे दिखा कर अपना शौक़ या वहम पूरा करते हैं तो इन को अनदेखा करना इन के वहम को ठेस लगाना होगा। मेरे माली ने यह वहम पाल रखा है कि उस के बराबर किसी को मसूर की दाल बनानी नहीं आती। उस के मुंह को देख कर चुप रहना पड़ता है ताकि उस का वहम कहीं टूट न जाये और मुहावरा भी क़ायम रहे। इसी तरह किसी ने पहनने का वहम पाल रखा है और किसी ने खाने का, किसी ने सोचने का और किसी ने लिखने का, किसी ने दिखने का और किसी ने दिखाने का, किसी ने बोलने का और किसी ने चुप रहने का। वह चुप रह कर अपनी योग्यता की धाक जमाने में सफल होता है। यह वहम उसे भीतर से बिखरने भी नहीं देता जो खोखला है। इसे अहं का वहम भी कहा जा सकता है।

•

इन व्यक्तिगत वहमों के अलावा जातिगत वहमों की गिनती भी कम नहीं है। जातिगत वहम सब के सांझे होते हैं। एक जाति को अगर बिल्ली के रास्ता काटने का वहम है तो दूसरी को तेरह नम्बर का, एक को अगर मंगल का वहम है तो दूसरी को शनि का, एक को अगर गाय पालने का है तो दूसरी को बकरी पालने का। और गाय पालने वाली जाति में अगर बकरी के वहम को लगाया जाये तो यह रूढ़ि को तोड़ना माना जाता है। भैंस पालने का वहम शायद किसी जाति को नहीं है; वह अधिक दूध देती है। तोता-मैना पालना शुभ है और कौआ पालना अशुभ। अनाज की कमी के कारण हाथी पालने या बांधने का वहम

छूटता जा रहा है। इसी तरह घोड़ा भी मशीन के युग में वहम का विषय नहीं रहा। लेकिन शादी के समय घोड़ी पर चढ़ने का वहम आज भी क़ायम है। कुछ जातियों में बैल पर बैठ कर विवाह करना शुभ है, लेकिन सब जातियों में गधे पर चढ़ कर शादी करना अशुभ माना जाता है, हालां कि हैवानों और इन्सानों में गधे के बिना जीवन चल नहीं सकता। भार ढोने का काम जितनी ख़ूबी से गधा कर सकता है उतनी ख़ूबी से और जानवर नहीं। आज भी पुराने रिवाजों के बारे में वहमों की दुनिया उसी तरह क़ायम है। लड़की को ख़ास तौर पर इनका पालन करना पड़ता है, नहीं तो उस का सुहाग ख़तरे में पड़ सकता है। इन जातिगत वहमों में अगर शादी के अपने वहम हैं तो ग़मी के भी निजी वहम हैं, पैदा होने पर एक तरह के वहम हैं तो मरने पर दूसरी तरह के। इन को बुद्धि की कसौटी पर परखना उतना ही बेकार है जितना इन से मुक्ति पाने की कोशिश करना। जब कभी इन का विरोध करने में उलझा हूँ तो मुँह की खानी पड़ी है। मैं उन दोस्तों की दाद देता हूँ जो जातिगत वहमों को बिना किसी परेशानी से पाल लेते हैं। मुझे बार-बार यही उपदेश दिया जाता है कि वहमों के बारे में सोचने की मनाही है। मन से सोचने के बजाय शरीर से सोचना बेहतर है। मन से सोचने वालों को वहम लग जाते हैं और एक बार जब ये लग जाते हैं तो घुन की तरह लग जाते हैं या कभी-कभी जोंक की तरह चिपक जाते हैं।

●

वहम जब लगाये जाते हैं तो ये ज़िन्दगी के ख़ालीपन को भरने के काम आते हैं। मेरे एक मित्र को ख़ुद सब्ज़ी ख़रीदने का वहम है। वह एक-एक भिण्डी को चुनता है। सुबह से ले कर शाम तक इसे चुन-चुन कर ख़रीदा जाता है और अन्त में सब भिण्डियाँ उसी तरह लग जाती हैं जिस तरह सब लड़कियाँ जिन्हें शादी के लिए चुना जाता है। सब के वहम पूरे हो जाते हैं। एक को अगर पुराने साबुन से नहाने का वहम है तो दूसरा हर बार नया नमूना ख़रीदता है। वह नये की तलाश में अपने वहम को पूरा करता है। इस तरह वहमों की दुनिया बेहिसाब और बेतरतीब है। मेरे एक मित्र ने साहित्य के इतिहास में अपना नाम लिखवाने का वहम लगा रखा है और इस कोशिश में वह अपनी सेहत ख़राब कर चुका है। इस तरह किसी ने टिकटें बटोरने का वहम पाल रखा है तो किसी ने तितलियाँ, किसी ने पुराने ख़तों को जमा करने का तो किसी ने पुराने अख़बारों के अम्बार

लगाने का। अगर एक को नयी-से-नयी किताब खरीदने का वहम है तो दूसरे को इसे माँग कर निजी लायब्रेरी बनाने का। पहले के लिए पुस्तक पढ़ना ज़रूरी नहीं है और दूसरे के लिए इसे लौटाना। सैकड़ों वहम मनोरंजन के लिए पालने पड़ते हैं। कुछ स्थूल हैं और कुछ सूक्ष्म। एक-दूसरे पर विश्वास करना या एक-दूसरे की तारीफ़ करना सूक्ष्म वहम है जिस के बिना जीवन भारी हो जाता है और इसे ढोना कठिन हो जाता है। सुबह से ले कर शाम तक जो भी कहता या करता हूँ उस में अधिक सार नहीं होता। अगर किसी की तारीफ़ करता हूँ या अपनी सुनता हूँ तो दोनों में खोखलापन होता है और फिर भी जीने के लिए इस वहम को लगाना होता है। यह जानता हूँ कि मेरे मुंह पर जो मुझे साफ़ बात करने की दाद देता है, वह ओझल होते ही मुझे वहमी या खब्ती कहने पर मजबूर हो जाता है। और वहम लगाना दोनों की मजबूरी है, ज़िंदगी की लाचारी है।

ख़ुशामद और ख़ुशामद

ख़ुशामद तरह-तरह की होती है, इस लिए ख़ुशामद और ख़ुशामद। यह बहुत पुरानी कला है, और इस का कथ्य-कथन या वस्तु-शिल्प भी युग-बोध के साथ बदलता रहा है। देवी-देवताओं से ले कर राजा-रानियों तक, भूमिपतियों-पूंजीपतियों से ले कर मन्त्रियों-अधिकारियों तक की ख़ुशामद के ढंग अपने-अपने हैं। ख़ुशामद, चापलूसी और चाटुकारी में इस लिए अन्तर भी पाया जाता है। यदि चाटुकारी स्थूल है तो ख़ुशामद सूक्ष्म और चापलूसी कहीं इन के बीच में है। चाटुकारी से चाटने की ध्वनि निकलती है। चाटा तो चाट या भात भी जाता है, लेकिन इसे चाटुकारी नहीं कहते। चाटुकार उसे कहना अधिक संगत होगा जो मानव-शरीर के किसी अंग को चाट कर दूसरे को गुदगुदाना या ख़ुश करना चाहता है। इस में चूमना भी आ जाता है, यदि चाटने की अवधि कम हो। कम समय के लिए चाटना चूमना कहलाता है। हाथ और चरण तक को चाटने-चूमने की विधियों का बखान है जिन का इस्तेमाल चाटुकार करता है। इस कला में जैसे-जैसे विकास होता गया है वैसे-वैसे चाटुकार पहले चापलूस और फिर ख़ुशामदी बनता गया है। हर समय उन्नति पाने के लिए ख़ुशामद नहीं की जाती। नारी को पाने के लिए या उसे क़ायम रखने के लिए, अपना काम करवाने के लिए, कविता-शाइरी सुनने के लिए भी यह काम में आती है। इसे करवाना भी वह बेहतर जानता है जिसे यह करनी आती है। साधन-साधना के बिना इस पर अधिकार पाना कठिन है।

•

एक ख़ुशामदी वह है जो हर शहर का तोफ़ा लाने में माहिर है। इस बारे में उस की जानकारी विशाल है। उसे यह मालूम है कि इलाहाबाद का अमरूद होता है (अकबर को वह नहीं जानता), आगरा का भुजिया (ताज में उसकी दिलचस्पी नहीं है), बनारस का लँगड़ा (दशाश्वमेध घाट से अभी उसका वास्ता नहीं पड़ा है), पठानकोट का मालटा (शहर के इतिहास से उसे क्या लेना है)। नागपुर का सन्तरा (नाग-संस्कृति उसके मतलब की नहीं है), लखनऊ का

दशहरी ग्राम (इस शहर की नफ़ासत की उसे पहचान नहीं है), श्रीनगर-शिमला का सेब (पहाड़ी दृश्यों में उस की रुचि नहीं है)। इस तरह शहर-शहर के खान-पान की चीज़ों को वह पूरी तरह जानता है ग्रौर घर खाली नहीं लौटता। यह ज़रूरी नहीं है कि चीज़ को उस शहर से खरीदा जाए, अपने शहर में भी इसे खरीदा जा सकता है, लेकिन डिब्बा, टोकरी या लिफ़ाफ़ा उस शहर का होना चाहिए। वह यह भी जानता है कि पान बनारस का माना जाता है, ज़रदा सुंघनी साहू का या किसी ग्रौर का, लेकिन इन का इस्तेमाल करने वाले इने-गिने होते हैं। अगर खुशामद करवाने वाले के यहाँ छोटी-छोटी लड़कियाँ हों तो वह जयपुर के गजरे लाना नहीं भूलता, लेकिन अब बड़ी-बड़ी भी छोटी-छोटी बन कर रहना चाहती हैं, दिल के शौक़ से शरीर के बुढ़ापे को ढांपना चाहती हैं। एक बूढ़े को जानता हूँ जो काले छाते के बजाय सतरंगी छाता ले कर बाहर निकलता है। उस समय लगता है रंगों की बहार फूलों से उठकर उसके छाते पर उतर रही है।

●

यह साधन वाला खुशामदी है, लेकिन एक ग्रौर साधना वाला भी होता है। उस बेचारे के पास न तो बाहर जाने के लिए साधन हैं ग्रौर न ही तोहफ़े खरीदने के लिए पैसा। उसे व्यक्तिगत परिश्रम से काम चलाना होता है, बड़े ग्रादमी के परिवार का अंग बनना होता है, उनसे भतीजे-भानजे का नाता जोड़ना होता है। वह मौन भाव से सेवा करना जानता है। वह स्टेशन या बस-स्टैण्ड पर लेने-छोड़ने जा सकता है, बिस्तर बांध सकता है, घर या दरबार में रोज़ हाज़िरी लगवा सकता है, बीमार न पड़ने पर भी हाल-चाल पूछ सकता है, बिना मिले उदास हो सकता है ग्रौर मिलने का बहाना बना सकता है। अपने बड़ों के हँसने पर बिना समझे उसे हँसना होता है। कभी-कभी अवसर मिलने पर उसे अपनी ग्रांखें भी गीली करनी होती हैं। ग्राज राशन के ज़माने में चीनी, तेल, चावल ग्रादि के बटोरने में उसे कुशलता पानी होती है। वह यह नहीं चाहता कि इन कामों में उस का रक़ीब हाथ डाले। इससे उस की खुशामद में अन्तर पड़ने का खतरा है। अपने रक़ीब से वह जलता है। अगर किसी तरह उस के पास कुछ पैसे जमा हो जाते हैं तो वह शबरी के बेर लाना नहीं भूलता। इस तरह वह साधन वाले खुशामदी का मुक़ाबला करना चाहता है। अगर वह शहर से बाहर है तो पत्र देने से यह काम चल सकता है। एक सम्पादक बता रहे थे कि अपना

नया काम सँभालने से पहले ही साधन-हीन खुशामदियों ने यह लिखना शुरू कर दिया कि पत्रिका का स्तर उन के आने से काफ़ी उठ गया है। और सम्पादक ने भी इन होनहार लेखकों की सूची तैयार करवा ली थी। खुशामद करवाने का शौक इस के करने से कम नहीं होता। मेरे एक मित्र (दोस्त नहीं) अपने चरणों को हाथ लगवाने तक चरण-वन्दना को सीमित रखना चाहते हैं। वह वन्दना करने वाले को आते देख अनायास अपना चरण आगे बढ़ा देते हैं, ताकि उसे अधिक झुकने से कष्ट न हो। एक दोस्त हैं जो भरे दरबार में खुशामद करवाना इस लिए चाहते हैं कि अकेले में यह फीकी लगती है। इसे करने के लिए लतीफ़े सुनाने होते हैं, कहानियाँ गढ़नी पड़ती हैं और कान में कभी-कभी चुग़ली भी करनी पड़ती है। इन का यक़ीन तोहफ़ा पाने में कम है, तारीफ़ करवाने में अधिक। तोहफ़ा खुशामद का ठोस रूप है और तारीफ़ तरल। इस होड़ में साधना करने-वाला साधन वाले से जीत भी जाता है। अगर तोहफ़ा कभी-कभी भूल से आ जाता है तो इसे लौटना शराफ़त के खिलाफ़ है।

●

एक बात निश्चित है कि खुशामद कभी निष्काम नहीं होती, उसे चाहे कितना कलात्मक रूप क्यों न दिया जाये। यह कभी सिफ़ारिशी चिट्ठी लिखवाने के लिए है तो कभी नौकरी पाने के लिए, कभी उन्नति पाने के लिए तो कभी अपनी रचना छपवाने के लिए, कभी एजेन्सी हासिल करने के लिए तो कभी ठेका, कभी इश्क़ में क़ामयाब होने के लिए तो कभी परीक्षा में, कभी किसी की आँखों में बसने के लिए तो कभी किसी को अपनी आँखों में बसाने के लिए। एक पति को मैं ने रात के दस बजे बाज़ार से बरफ़ी ख़रीदते पकड़ा तो वह फ़रमाने लगे कि देरी में घर पहुँचने पर जब देरी से पत्नी दरवाज़ा खोलती है तो एक लिफ़ाफ़ा खुशामद के तौर पर उस के हाथ में देने से उसका तापमान कम हो जाता है। यह उन सब पतियों को करना पड़ता है जो स्वभाव से घुमक्कड़ और घर देर से पहुँचते हैं, घर में संगत कम और बाहर अधिक करते हैं।

मैं खुशामद के बारे में बात इसलिए कर रहा हूँ कि इस में अनुभव और समय दोनों का सच है। खुशामद करने का मेरा तरीक़ा बड़ा बारीक और महीन रहा है, अपने मतलब की कभी भिनक नहीं पड़ने दी। अपने स्वभाव को खुशामद कराने वाले के अनुकूल ढालने की कोशिश की है। अगर वह इससे भी खुश नहीं हुआ

तो उसे गाली भी दी है जो उसे पहुँचती भी रही है। उस के परिवार का अभिन्न अंग भी बनने की पूरी कोशिश की है और परिवार के अभाव में उस के जीवन का अन्तरंग तो ज़रूर बन गया हूँ। इस तरह खुशामद करने में मेरी न किसी से दोस्ती रही है और न ही दुश्मनी, मेरा पावन सम्बन्ध शुद्ध स्वार्थ से रहा है। एक कवि के शब्दों में खुशामद से उन्नति के सब रास्ते तो खुल जाते हैं, लेकिन उन्नति के सिवा और सब बन्द हो जाते हैं। इस लिए मैं खुशामद करवाना नहीं चाहता। एक तो मेरी तरह किसी को यह करनी नहीं आती। मोटे और भोंडे तरीक़े से खुश करने की कोशिश की जाती है जिसे मैं चापलूसी कहता हूँ। चाटुकारी का तो सवाल ही नहीं उठता। और दूसरे यह कि अपनी तरह मैं दूसरों के उन्नति के सिवा सब रास्ते बन्द नहीं करना चाहता। यदि उन्नति में ही बाक़ी सब रास्ते छिपे हुए हैं तो बात दूसरे स्तर की है। खुशामद पर यह मेरी कहानी है, इस में अनुभूति का सच भी है और काल का भी, लेकिन अनुभूति की प्रामाणिकता और काल की प्रासंगिकता के अभाव में यह कहानी बनने से रह गई है।

काश, मुझे भी आता !

एक बड़े या बड़ा बनने की हसरत रखने वाले आदमी की तरह मन तो मेरा भी कभी-कभी करता है कि हर वक़्त टपकने वालों को मिलने से इनकार कर दूं, लेकिन इसके पहले ही मुझे इनसे मिलना पड़ता है और एक बार जब आमना-सामना हो जाए तो मन की मन में ही धरी रह जाती है। मेरी रात की नींद इतनी गहरी नहीं होती जितनी दोपहर के बाद की। यह इस लिए नहीं कि गीता के अनुसार एक योगी की तरह मैं दिन को सोता हूँ और रात को जागता हूँ। यह आदत शायद इसलिए पड़ चुकी है कि अकेला होने के कारण रात का डर रग़ों में रच गया है या शायद इसलिए कि दिन के ख़ालीपन में सोचने के बजाय सोना बेहतर समझता हूँ। मेरे पास न तो महात्मा गांधी की मीरा बहन है जो मेरे सोते समय पहरा दे सके। वह इनकार करना जानती थीं। न ही मेरे पास परिवार है जो कह सके कि 'बाबू जी' सो रहे हैं। अगर नौकर है तो वह छोटा योगी है जो दिन को घोड़े बेच कर सोता है। दरबान रखने के लिए मेरे पास साधन ही नहीं है। इस लिए परिचित-अपरिचित कभी घण्टी बजा कर और कभी इस के बिना ही सीधा भीतर आ जाता है और इतना कह कर बड़े आराम से बैठ जाता है—आप दिन को भी सोते हैं ! अगर मेरे मुंह से यह निकल जाता है कि रात को नींद कम आती है तो दो-चार डॉक्टरों के नाम ले देता है। अब वह जम जाता है और बातों-बातों में यह वहम पैदा कर के चला जाता है कि वह मुझ से मिलने आया था। लेकिन बाद में जब उबासियां घेर लेती हैं तो यह तय नहीं कर पाता कि नींद बेहतर है या बड़ा आदमी बनना। एक और जब दर्शन करने के लिए पधारते हैं तो यह अहसास होने लगता है कि मुझ में भी बड़ा आदमी बनने के बीज तो अवश्य हैं, लेकिन जब दर्शन करने के बाद वह एक-दो काम करवाने में अपने असली रूप में ज़ाहिर होते हैं तब यह लगता है कि बीज भीतर से खोखले हैं। इनके फूटने की सम्भावना कम है, गलने-सड़ने की अधिक। इनकार करने की कला महामानव ही जानता है, मुझे लघुमानव के नाते मानवीय स्तर पर जीना और मरना है। मेरे एक आदरणीय मित्र को यह शिकायत

है कि लोग जब मिलने आते हैं तो जाने का नाम ही नहीं लेते। एक बार एक मित्र अपने परिवार के साथ इन से मिलने आए तो इन को इस बात का संकेत किसी तरह जब दिया गया, तो मित्रभाव से विभोर हो कर उन्होंने इतना कहना काफ़ी समझा—"यह और लोगों के बारे में कहा गया होगा, मेरे बारे में यह थोड़े ही सही है।" इतना कह कर वह अपनी बातों में इस क़दर उलझ गये और दूसरों को उलझाने में लग गये कि समय का बोध ही नहीं रहा। मेरे आदरणीय मित्र मेरी तरह इनकार करने की कला सीख नहीं पाये हैं, महामानव का साहस बटोर नहीं पाये हैं। एक और हैं जिनकी पत्नी आने वालों को यह कह कर टाल देती हैं कि वह दो बजे दोपहर के बाद मिल सकते हैं। अगर इन के मित्र धीरे-धीरे इनसे नाराज़ होते जा रहे हैं तो दोष मित्रों का है। यह है महामानव का दृष्टिकोण। उस की ज़िन्दगी अधिक क़ीमती होती है, उसे संसार को कुछ देना होता है। इसी लिए तो उस का जन्म हुआ है। यदि इनकार करने की कला वह सीख नहीं पाते तो छोटे आदमियों की तरह वह भीड़ में खो सकते हैं।

●

एक और जमात है जिससे मेरा पाला पड़ता है और यह जमात उधार माँगने वालों की है—कभी पैसा तो कभी पुस्तक, कभी रेडियो तो कभी गाड़ी, कभी टेप-मशीन तो कभी घास काटने वाली मशीन, कभी पेन तो कभी नौकर—हर चीज़ जो मेरे पास है और जिस की सूची उन्होंने बना रखी है। एक श्लोक स्कूल में पढ़ा था जिसका मतलब था कि किताब, क़लम और बीवी को कभी उधार में नहीं देना चाहिए। इन के लौटने की सम्भावना कम होती है। अगर आज मैं श्लोकों की रचना कर सकता तो इस में अनेक चीज़ों को गिनवा सकता हूं जिन के लौटने की सम्भावना कम होती है और अगर होती है तो खस्ता हालत में। अगर टेप-मशीन या घास काटने की मशीन को लौटाया जाता है तो उसे मिस्त्री के पास भेजना पड़ता है, उधार का पैसा लौटाया जाता है तो उसे पूरा चुकाया नहीं जाता, पुस्तक वापस की जाती है तो उस में काम के पन्ने ग़ायब होते हैं, नौकर किसी की शादी में काम कर के लौटता है तो आते ही बिस्तर पर पड़ जाता है। और पत्नी का सवाल ही नहीं उठता। इस के बारे में वे ही राय दे सकते हैं जिन के पास वह है। एक बार मेरे जानी दोस्त ने नई गाड़ी कुछ समय के लिए माँगी। लौटने पर उसे पहचानना कठिन हो गया। ऐसा लगा कि कुमारी

वेश्यालय से लौटी है। उस का रंग-रूप चन्द दिनों में ही बिगड़ गया था। उस समय महसूस किया कि काश मुझे भी आता…।

इन व्यक्तियों के अलावा अनेक स्थितियों में भी परेशानी का सामना करना पड़ता है और इनकार करते नहीं बनता। एक आम स्थिति नौकरी के लिए सिफ़ा-रिशी चिट्ठी पाने की है। अगर इसे दिया जाता है तो इस में वज़न नहीं होता अगर नहीं दिया जाता तो नाराज़ी मोल लेनी पड़ती है। मेरे एक मित्र हरेक को सिफ़ारिशी पत्र दे कर अपनी जान छुड़ा लेते हैं, लेकिन नौकरी देने वालों को भी संकेत दे देते हैं कि इस का मतलब कुछ नहीं है। इसे मैं इनकार करने की कला कहता हूँ जिसे मैं सीख नहीं पाया हूँ। एक और सज्जन ने इसे दूसरी तरह साध लिया है। वह यह कह कर टाल देते हैं कि सिफ़ारिशी चिट्ठी से काम नहीं बनता, ख़ुद मिल कर सिफ़ारिश करने से यह हो सकता है। आज मन्त्री भी गांव या बिरादरी के आदमी को चपरास तक दिलवाने के लिए ख़ुद बात करते हैं। इस बीच वह आराम से मिलने-मिलाने की बात भूल जाते हैं। इस तरह इस कला से न परेशानी होती है और न ही दूसरों की नाराज़ी मोल लेनी पड़ती है। माया और राम दोनों सिद्ध हो जाते हैं। कुछ लोग वचन देने के लिए मजबूर करते हैं और इसे मध्यकालीन बोध से जोड़ देते हैं। इतना नहीं जानते कि रघुकुल का युग बीत चुका है। एक और स्थिति है जिस में इनकार करने की समस्या उठ खड़ी होती है और वह है दान देने की। यह परम्परा बहुत पुरानी है और आज-कल यह रूढ़ि में बदल रही है। इस की महिमा का बखान हर भारतीय भाषा के प्राय: हर सन्त और भक्त कवि ने किया है और कबीर ने इसे नदी के नीर से चिड़ी का चोंच-भर पानी लेना कहा है। आज बांध लगने से नदियों का नीर भी सूख गया। एक औसत आदमी का दान देना उतना ही कठिन हो गया है जितना इनकार करना। इस से कुल की इज़्ज़त को ठेस लगती है और अहं को भी चोट पहुँचती है। एक अमीर तो आयकर से बचने के लिए दानी बन सकता है। यह उसी तरह जिस तरह बंजर भूमि भूदान के काम आ सकती है। एक तीसरी स्थिति चन्दा मांगने वालों की है जो दान की स्थिति से भिन्न समझी जाती है। दान से परलोक सिद्ध होता है और चन्दे से इहलोक। पुराने युग में दान की परम्परा थी, आधुनिक युग में इसे चन्दा कहा जाता है। इस लिए अकबर को यह

कहना पड़ा—

> "सरविस में मैं दाख़िल नहीं, हूँ क़ौम का ख़ादिम
> चन्दों की फ़क़त ग्रास है, तनख़्वाह कहाँ है ?"

इस तरह की ग्रास महँगी के ज़माने में पतली पड़ रही है। चन्दा माँगने में संकोच और देने में अधिक संकोच, और संकोच से काम लेना इनकार करने की कला का परिष्कृत रूप है। अगर माँगने वाला कभी-कभी रसीदी कॉपी खोल बैठता है और क़लम हाथ में दे कर ख़ुद रक़म भरने के लिए मजबूर करता है तो लाचार हो कर एक रुपया लिखना पड़ जाता है। वह इस से उतना ही नाराज़ हो जाता है जितना आज का भिखारी एक पैसा देने से। वह कभी-कभी इसे फेंकने पर भी उतर आता है जिसे खोजना और उठाना कठिन हो जाता है। यह आकार और मोल में इतना छोटा हो गया है, इन्सान के क़द की तरह जो बौना होता जा रहा है। अँगरेज़ी में सॉरी शब्द से अनेक स्थितियों का सामना किया जा सकता है, लेकिन माफ़ कीजिए को गुस्ताख़ी समझा जाता है। इस लिए कुछ लोग हिन्दी का विरोध करते हैं और इसे अपनाने से कतराते हैं। इन का कहना है कि इस भाषा में इनकार करने की कला का विकास जब हो जायेगा या सॉरी शब्द की लोच इस में आ जायेगी तब यह समूचे देश की भाषा बनने का अधिकार पा सकती है।

काश, मैं भी जानता !

जब जीवन जीता नहीं हूँ तो इस के बारे में सोचने लगता हूँ और जब यह सोच के बाहर होने लगता है तो बैठे-ठाले इसे पकड़ने की कोशिश में लिखने लगता हूँ। जीवन क्या है—इसे सब अपने-अपने तौर पर और अपनी-अपनी भाषा में जब जानने की गवाही देने लगते हैं तो मैं महसूस करने लगता हूँ—काश, मैं भी जानता ! एक समय था जब मैं भी मन से इस के बारे में जानता था, उपनिषदों की भाषा में बहस करता था, मन्त्र-तन्त्र, पाठ-पूजा, नाम-जाप आदि में इस की बात करता था; योग के साधनों से इसे गहरे में महसूस भी करता था। साधना चूँकि न सहज थी और न ही असहज, इस लिए शायद यह मेरी पकड़ से बाहर हो गया । अब मन से सोचना अधूरा लगता है, शरीर से सोचना भी आवश्यक हो गया है। मेरे पुराने साथी आज भी जब पुरानी भाषा में इसे जानने और पहचानने का दावा करते हैं तो मुझे उदास हो कर यह कहना पड़ता है—काश, मैं भी इन की तरह पहुँचा हुआ होता। इस के बारे में सब तरह के कथनों को सुनता रहता हूँ, सब तरह की किताबों पर नज़र डालता रहता हूँ, लेकिन निश्चित रूप में इसे पाने से वंचित रह जाता हूँ। पहले इस का नाम ब्रह्म आदि था और इस का मतलब शेष था। आज इसे विज्ञान का शेप कहने लगे हैं। कौन सही है, कौन ग़लत ?—इस का पता नहीं चलता। मन से सोचने वाले अपनी हांकते हैं, शरीर से मानने-करने वाले अपनी। क्या अपनी-अपनी हांकने में जीवन है ?

●

इसे कहाँ खोज सकता हूँ और कैसे पा सकता हूँ ? क्या यह देहात में है या शहर में, मसजिद-मन्दिर में है या मयखाने में, रेलगाड़ी में है या बस में, भवन में है या झोंपड़ी में, आमिष में है या निरामिष में, सफ़र करने में है या बैठे रहने में, चलने में है या पहुँचने में, बोलने में है या चुप साध लेने में, रोज़ा-उपवास रखने में है या खाने-पीने में, दूसरों को गिराने में है या उठाने में, काम करने में है या आराम करने में, जागने में है या सोने में, असंगति में है या विसंगति में, जीने

में है या मरने में ? किस में है और किस में नहीं है, सब में है या सब में नहीं है,—इसका जवाब पहुँचा हुआ तो दे सकता है, लेकिन मैं तो एक बार पहुँच कर फिर से अपहुँचा हो गया हूँ। ज़िन्दगी को असली और मौत को नक़ली मानता था, इसे नींद समझता था, इस के बाद जगने में विश्वास रखता था और जागने के बाद उन सब कामों को पूरा करने की सोचता था जो इस जीवन में अधूरे रह गये हैं। मुझे कभी-कभी इस बात का खेद होता है कि मैं रहस्य और चिरन्तन की भाषा को क्यों भूलता जा रहा हूँ। एक भाषा को पूरी तरह सीख नहीं पाया था, दूसरी को सीखना पड़ रहा है। शाश्वत के बजाय क्षण की भाषा को बोलना पड़ रहा है। स्वयं बोल कर मुझे मौन की भाषा सीखने के लिए उपदेश भी दिया जा रहा है। इन्सान की भाषा में यदि जीवन को बाँधना कठिन हो रहा है तो हैवान की भाषा अपनाने के लिए कहा जा सकता है। पहले भी तो जीवन को भेड़-गड़रिया की भाषा में समझाया जाता था, शुक-शुकी की बोली में इस के सार को निचोड़ा जाता था, बकरी की भाषा में पते की बातें की जाती थीं। इन जानवरों और पंछियों की भाषा से यदि आज काम नहीं चल रहा तो अन्य पशुओं-पंछियों की बोली में जीवन को पकड़ने का सवाल उठाया जा रहा है। भाषा के संकट की स्थिति में रँभाना, हिनहिनाना, दहाड़ना, भौंकना, चहकना इस लिए आवश्यक है कि आज की विवशता, लाचारी, असंगति, विसंगति, आक्रोश, क्रोध, मोहभंग, संत्रास, मृत्युबोध आदि को शायद आदिम आवाज़ों के माध्यम से सही तौर पर कहा जा सकता है—आदिम अनुभवों के लिए आदिम भाषा। भाषा का विकास जीवन को पकड़ने से रह गया है। इसे पकड़ने के लिए देश की भाषा या काल या देश-काल की भाषा का नारा लगाया जाता है। ज़िन्दगी को जानने-पहचानने के लिए रास्ते और भी हैं। इसे रेखा-रंग, स्वर आदि में उतारने की भी कोशिश की जाती है। क्या जीवन इन के जाल में फँसने में है या इन से छुटकारा पाने में ? क्या इस बन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया का नाम ही ज़िन्दगी है ? काश, मैं भी तय कर पाता और जानता कि जीवन क्या है।

अपने माली से जब यह सवाल करता हूँ कि जीवन क्या है तो वह यह कह कर टाल देता है कि यह भगवान को मालूम है। उसे कुरेदने की कोशिश करता हूँ तो आखिरी जवाब यह है कि मेरे पास इस के लिए समय ही नहीं है और न ही मैं पढ़ा-लिखा हूँ। वह शायद इसे जीने में इतना डूबा हुआ है कि इस के बारे में

सोचता ही नहीं। सुबह से शाम और शाम से सुबह। क्या सुबह-शाम को दोहराने में जीवन है ? यह सवाल अगर सूरज से पूछा जाता तो शायद बेहतर होता। आम तो यही देखने को मिलता है। महादेवी नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य-गीत, दीपशिखा के गीतों के बाद यदि मौन हैं तो इसे एक अपवाद ही कहा जा सकता है। शेष की तरह यदि इन की आस्था भी दोहराने में होती तो जीवन पर इन की पकड़ माली की तरह अधिक गहरी होती। इन के काव्य का पाठ उन अखबारों की तरह अधिक होता जिन में पुरानी चीजों को नये ढंग से पेश किया जाता है। होता वही है जो रोज़ होता है, लेकिन सुरखियाँ बदल जाती हैं। इस तरह हर आदमी जीवन के बारे में अपनी राय रखता है। इस स्थिति में मुझे खेद होने लगता है—काश, मैं भी इस के बारे में कुछ कह सकता।

●

ज़िन्दगी के बारे में यदि फ़तवों को एकत्र करना सम्भव हो तो इन का अम्बार लग सकता है—यह पानी का बुलबुला है, हवा की मौज है, क़ैद है, नियामत है, दुःखमय है, आनन्दमय है, पतझर-वसन्त-बरसात है, सागर-लहर-किनारा है, रास्ता-मंज़िल है, फूल-कांटा-पेड़ है, नाटक-कहानी-एकांकी है, मजबूरी-लाचारी है, माया-मिथ्या है, साबित-खण्डित है, कविता-गद्य है, सब-कुछ है और कुछ भी नहीं है। इन वक्तव्यों से अनुमान लगाया जा सकता है कि हर चीज़, हर भाव-विचार को ले कर इस के घूँघट को उतारने की कोशिश जारी है, लेकिन यह पूरी तरह उतरने में नहीं आता। इस तरह इस के चेहरे को बदलता हुआ भी कहा गया है। एक इसे नाक के रूप में आंकता है, दूसरा आँख के माध्यम से, तीसरा कान, चौथा ज़बान और पाँचवाँ इसे छू कर सन्तोष पा लेता है। अब तो इसे चेहरे से नीचे भी टटोलना शुरू कर दिया है—कभी उदर के रूप में तो कभी शिश्न के रूप में। केशों के रूप में इसे जाना-पहचाना गया है, लेकिन बालों की बात अब शुरू होने लगी है। चरणों की भाषा तो बोली जाती रही है, लेकिन पैरों की ज़बान अब बोली जाने लगी है। एक युग था जब जीवन के हर पहलू को केवल कमल के माध्यम से कहा जा सकता था—मुख, हाथ, नेत्र, चरण आदि कमल के समान थे; लेकिन कुकुरमुत्ता, कैक्टस, बबूल की भाषा ने इसे फिर से उलझा दिया है। क्या उलझाने-सुलझाने की प्रक्रिया में ही जीवन को पाया जा सकता है ? काश, मैं भी सवाल पूछने के बजाय जवाब दे सकता! मैं जब पुराने

और नये मुनियों को देखता हूँ तो मुझे हसरत कचोटने लगती है, अपने से बड़ों को फ़तवे देते देखता हूँ तो मुझे अफ़सोस होने लगता है और मुक्तिबोध की भाषा में यह कहने को जी चाहता है--जीवन क्या जिया ? अगर मैं भी इसे जी पाता तो शायद फ़तवे देने के लिए लायक़ हो जाता। अब तो दूसरों को दोहराने के सिवाय और कर ही क्या सकता हूँ। मेरे दिमाग़ में न तो इतनी जान है और दिल में न ही इतना दम है कि दूसरों के फ़तवों को अपना बना कर पेश कर सकूं।

अपना मकान

अपना मकान इस लिए कह रहा हूँ कि यह भाड़े का नहीं है और अपना घर कहने से इस लिए कतरा रहा हूँ कि इस में मैं अकेला ही रहता हूँ। एक किराये का मकान परिवार की रौनक़ से घर कहलाने का अधिकारी हो जाता है, लेकिन अपना मकान एकान्त और शान्त होने के कारण इस अधिकार से वंचित रह जाता है। इसे मैं ने घर की तरह पाला-पोसा है, इस में मुझे घर का आराम भी मिला है, लेकिन हर परिचित और अपरिचित ने मेरे मकान का ही पता पूछा है, या मैं अपने मकान पर कब मिल सकता हूँ। एक घर या घोंसले में बड़े हो कर सब पंछी जब वहां से उड़ जाते हैं तब भी वह घर या नीड़ ही कहलाता रहता है।

मुझे अपना मकान बनवाने का बिलकुल शौक़ नहीं था, लेकिन फिर भी इसे बनवाना पड़ा है। यह विवशता का परिणाम है। भारतीय समाज में एक अविवाहित के लिए किराये का मकान मिलना कितनी परेशानी का काम है, यह वही जानता है। इस की खोज में जब कभी निकला हूँ सब से पहला सवाल यही पूछा गया है कि मेरा परिवार कितना और कहां है—कितना इसलिए कि कहीं बड़ा परिवार मकान के लिए बोझ न बन जाये और इसे बिगाड़ न दे, और कहां इस लिए कि यह कहीं नदारद न हो। हर बार मुझे झूठ बोलना पड़ा है कि परिवार बहुत छोटा है, लेकिन आयेगा वह बाद में। इस के आने से पहले मुझे एक मकान छोड़ कर दूसरे में जाना पड़ा है, एक से परिचित हो कर दूसरे का परिचय पाना पड़ा है। मुंह मांगा किराया भी दिया है, लेकिन फिर भी इस से निकलना पड़ा है। इस तरह बार-बार का अपमान सहन करना पड़ा है। जब से मैं ने किराये के मकान में अपना बन्द सामान रखा है तब से पड़ोस की महिलाओं का मेरे यहां आना-जाना शुरू हुआ है। अपनी जाति को मिलने की कामना जितनी देवियों में होती है, उतनी शायद देवताओं में नहीं होती। इन देवियों के चेहरों पर सन्देह की रेखाओं को पड़ते देख कर मेरा माथा ठनका है कि मुझे पूरा सामान खोलने का साहस तक नहीं हुआ है। इस तरह अगले मकान की तलाश में निकलना पड़ा है। इस लिए अनचाहे मुझे अपना मकान बनवाना पड़ा है। इस तरह अभिशाप

भी कभी-कभी वरदान बन जाता है। यह है तो आखिरी वक़्त क़लमा पढ़ने के बराबर, लेकिन इस तरह काफ़िर होने से बच गया हूँ। इस के पहले मैं अछूत की स्थिति में था, शहर के बाहर अछूतों की तरह किराये का मकान नसीब होता था। अब यह मकान चण्डीगढ़ के ऐन बीच में है। इस से भी थोड़ा सन्तोष मिलता है। छोटी जाति से बड़ी जाति का हो जाना भी तो भारत में कम सन्तोष की बात नहीं है।

●

अपना मकान बनवाने का एक लाभ यह भी हुआ है कि अब मैं इस के एक-एक कोने से परिचित हो गया हूं; महादेवी की भाषा में इस के एक-एक कण को जान लिया है। यह मेरा एक परिचित ही नहीं रहा, दिली दोस्त भी बन गया है, जिस की रग-रग को जान कर ही इसे दोस्त कहा जा सकता है। बिजली के हर बटन को अँधेरे में ही दबा लेता हूँ, हर नल के स्वभाव को पहचान गया हूँ, हर चिटकनी की सख्ती और नरमी को जान गया हूँ, हर आलमारी की बिसात से वाकिफ़ हो गया हूँ। इसे मैं ने बड़ी रीझ से सजाया है, बड़े शौक़ से रँगवाया है और बड़ी सँभाल से रखा है। यह एक नववधू की तरह अपनी लाज में हुलसता है। लेकिन कब तक! इस पर पानी पड़ेगा जो इस के रंगों को धो डालेगा, आँधियाँ आयेंगी जो इस पर धूल डाल जायेंगी, ओले पड़ेंगे जो इस के रोगन की चमक को मन्द कर देंगे। लेकिन फिर भी हर नववधू का अपने विवाह के समय लाज में हुलसना भी तो स्वाभाविक है, उस का शृंगार करना जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं ने अपने मकान को नववधू की तरह सजाया है। अगर निराला अपनी लड़की सरोज का अलंकार स्वयं कर सकते थे और उस की सुहाग शैया को स्वयं सजा सकते थे, तो मुझे अपने मकान का शृंगार करने में संकोच किस तरह हो सकता है! हर कमरे का अपना व्यक्तित्व है, उस का अपना रंग है और इस के अनुरूप परदों का रंग है। अगर बाद में इन का रंग मैला हो जायेगा या मन्द पड़ जायेगा, तो इस की चिन्ता नहीं है। नववधू भी तो माता बनने के बाद अपनी पहली आभा को खो देती है; इस में नयी तरह की आभा चाहे आ जाती है। इसी तरह मकान का मैलापन और फीकापन अपनी आत्मीयता में अधिक चमक सकता है। अब तो इसे छूने से भी परहेज़ करता हूँ, ताकि इस पर दाग़ न पड़ जायें, लेकिन बाद में इस के दाग़ ही इस की निजता का आभास देंगे। इस में अजब तरह का अपना-

पन तथा परायापन अनुभव होता है, अपनापन इस लिए कि यह किराये का नहीं है और परायापन इस लिए कि बाद में इस में कौन रहेगा और इसे किस तरह रखेगा ! इस चिन्ता का कारण यह भी है कि मैं इस में पूजा-पाठ कर के दाखिल नहीं हुआ हूँ। मेरी छोटी भाभी को इस का शौक़ था और उस ने गाय का बढ़िया घी और हवन का सामान ख़रीद भी रखा था, लेकिन घी इतना बढ़िया था कि इसे जलाने के बजाय मुझे इसे खाना बेहतर लगा। असल में वह कुछ लोगों को बुला कर इसे दिखाना चाहती थी, पूजा-पाठ तो एक बहाना था।

●

अगर अपने मकान का सुख होता है, तो इस का दुःख भी है, लाभ है तो हानि भी। सब से बड़ा दुःख यह है कि पड़ोसी से अगर अनबन हो जाती है तो इसे बदला नहीं जा सकता। किराये के मकान में यह सुविधा होती है। इस लिए मैं ने मकान के चारों तरफ ऊँची झाड़ लगवा ली है, ताकि पड़ोसी आँखों से ओझल हो जाये, अनबन का अवसर ही न मिले। मेरे पड़ोसियों के भी अपने-अपने मकान हैं। इन के लिए भी मकान बदलना असम्भव है। और अपने नये मकान को किराये पर देना भी उसी तरह लगता है जिस तरह सुमन का कोठे पर जा कर बैठ जाना। एक बार इस तरह युवती के कोठे पर बैठ जाने से बाद में उस का उद्धार नहीं हो सकता, एक बार मकान के किराये पर चढ़ जाने के बाद इस का सुधार नहीं हो सकता। इस की सूरत इतनी बिगड़ जाती है कि इस का लौटना असम्भव हो जाता है। अपना मकान बनवाने का एक और दुःख भी है। यह अधिक को खलता है और कम को भाता है, खलने और भाने के अपने-अपने कारण हैं। यह बहुत छोटा है। इस लिए एक बड़े परिवार वाले को इस का खलना स्वाभाविक है। यह मेरे लिए बहुत बड़ा है। इस लिए एक समाजवादी को इस का अखरना उतना ही स्वाभाविक है। इसी तरह एक देखने वाले को इस का दोष दूसरे को इस का गुण लगता है। हर देखने वाले ने दोषों को दूर करने की सलाह भी दी है। मैंने इन के लिए एक कॉपी तथा पेन्सिल मेज़ पर रख दी है, ताकि सब की क़ीमती राय का लाभ उठा सकूँ। पेन्सिल तो बार-बार गुम होती रही है, लेकिन कॉपी क़ायम है। इस कॉपी के आधार पर मकान के गुण-दोषों को जब तोला है तो इन का बराबर निकलना मन को सन्तोष देता है। इस तरह इस की शक्ल औसत है, न बुरी है और न ही भली; और औसत शक्लों पर ही तो संसार भी टिका हुआ

है, औसत पत्नी के आधार पर ही तो परिवार चलता है। इस लिए मकान या पत्नी का भाना या खलना एक बराबर है।

●

मेरे लिए अपने मकान की समस्या निजी है। इस पर सब की आँखें हैं। मकान एक है और आँखें अनेक। यह समझ में नहीं आ रहा कि यह किस के नाम लिखा जाये। जायदाद का अगर सुख होता है तो इस का दुःख भी है। अगर एक को देता हूँ तो उस में सँभालने की शक्ति नहीं है, और अगर इसे दूसरे के हवाले करता हूँ तो उसे रहने का ढंग नहीं आता। मेरे एक मित्र अपना मकान बनवाने पर मुझ पर तरस भी खाते हैं। यह इस लिए कि वह हर दो साल के बाद मकान और हर तीन साल के बाद गाड़ी बदलने के हक़ में है। इस का कहना है कि पुराना मकान और पुरानी गाड़ी झंझट बन जाते हैं। कभी पुराने मकान का नल टपकने लगता है तो कभी गाड़ी का घिसा टायर रास्ते में फट जाता है। वह पत्नी की बात इस लिए नहीं करते कि वह इन के साथ होती हैं। अगर अपना मकान बनवा कर मुझे दुविधा में पड़ना था और यह एक भूल थी तो अब इसे किस तरह सुधारा जा सकता है। जब इतनी आयु किराये के मकानों में बीत चुकी थी तो बाक़ी भी इन में बीत सकती थी। यह बड़ी उमर में शादी कर के पछताने के समान है; लेकिन पश्चिम के देशों में इस का रिवाज बढ़ रहा है। इस आयु में ही एक साथी की आवश्यकता अधिक महसूस होने लगती है। क्या आख़िरी उमर में क़लमा नहीं पढ़ा जा सकता ? अब तो अपना मकान बन चुका है, इसे गिराया नहीं जा सकता। इस में रहने के सिवाय मेरे पास और चारा ही क्या है ?

उकता गया हूं

दुनिया की महफ़िलों से उकता कर अपना जी बहलाने के लिए मैं पुस्तकों की सभा में चला आया। इन में बोर करने वालों की तादाद हिन्दुस्तान की आबादी की तरह दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही थी और इन का अहं गुब्बारे की तरह फूलता ही जा रहा था। मुझे इन के अहं का शिकार होना खलने लगा। मेरी सूरत से चाहे मौन न टपकता हो, लेकिन मेरी सीरत चुप रहने की है। इस तरह मेरा स्वभाव पुस्तकों से मिलता है। इस लिए इन की संगति में मुझे चैन मिलने लगा। इसकी एक और वजह भी थी। महफ़िलों में पहले जहाँ शेर-ओ-शायरी का वातावरण होता था, सभाओं में अब वहाँ निन्दा-रस का ही संचार होता है। इस रस को चखना कभी-कभी तो मुझे भी भाता है, लेकिन हर वक़्त नहीं। छह रसों के व्यंजन में एक ही रस का पकवान तो रोगी के लिए ही श्रेय हो सकता है। महफ़िलों में शामिल होने के लिए घर से बाहर निकलना पड़ता है, लेकिन पुस्तकों की सभा घर में ही लग सकती है। एक और भी कारण था, जो मुझे पुस्तकों की सभा में ले आया। महफ़िलों में कभी-कभी किसी से तू-तड़ाक भी हो जाती थी; लेकिन पुस्तकों से भारतीय देवी के समान लड़ने का अवसर ही नहीं होता। आज्ञा पालन करने वालों से लड़ना किस तरह हो सकता है? इन के हाथ ही नहीं होते, इस लिए ताली किस तरह बज सकती है? इन के ज़बान ही नहीं होती, इस लिए तू-तड़ाक किस तरह हो सकती है?

●

अब मुझे पहली बार अनुभव होने लगा कि महफ़िल और सभा में अन्तर भी है। इस के पहले मेरे लिए ये केवल उर्दू और हिन्दी के दो शब्द थे, जो एक ही भाव के सूचक थे। अब मुझे यह लगता है कि दो समानार्थी शब्द कभी भी एक अर्थ को सूचित नहीं कर सकते। मह फिलमहफ़िल है और सभा सभा, पानी पानी है और जल जल। पानी में जल की गम्भीरता और पवित्रता किस तरह आ सकती है? इसी तरह सभा में महफ़िल की शोख़ी और रंगीनी किस तरह भर सकती है? मैं दुनिया की महफ़िलों से उकता कर जब पुस्तकों की सभा में जमने लगा तब

महसूसने लगा कि आकाश से गिर कर खजूर में लटक गया हूँ। पुस्तकों से घिर कर इन का बन्दी बन गया हूँ। सुबह से ले कर शाम तक और कभी-कभी सोने से पहले तक कभी पुस्तक तो कभी पत्र-पत्रिका में व्यस्त रहा हूँ। आँखों के चश्मे का नम्बर भी हर साल बदलता रहा है। इस आदत का शिकार तब हुआ था जब स्कूल-कॉलिज में ही पढ़ता था। पढ़ने से अधिक अंक पाता था और घरवालों से शाबाशी और बाहर वालों से जलन मिलती थी। लाहौर में नयी से नयी पुस्तक की बात करने का रिवाज-सा हो गया था। सब पुस्तकों को पढ़ना सम्भव न होता था। इस लिए कुछ के बारे में सूचनाओं तथा आलोचनाओं के आधार पर ही बात करने का अभ्यास हो गया था और इस का मैं ने पूरा लाभ भी उठाया है। आज तक इस का राज़ खुलने भी नहीं दिया। इसी लिए शायद एक विद्वान होने का भ्रम मेरे बारे में बना हुआ है, चाहे एक हिन्दी का विद्वान होने में सन्देह ही क्यों न रहा हो। यह सन्देह भी तब से दूर होने लगा है, जब से पान चबाना शुरू कर दिया है। इस लिए अब पुस्तकों से उकता जाना स्वाभाविक ही नहीं रहा, आवश्यक भी हो गया है। आज प्रोफ़ेसरी का पद पाने के लिए इन तीन योग्यताओं से सम्पन्न होना पड़ता है—अपना मकान, अपनी गाड़ी और पढ़ना-लिखना बन्द। मैंने भी पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया है। कभी-कभार जब पुरानी आदत से मजबूर हो जाता हूँ और वक़्तकटी के लिए किसी और साधन को जुटा नहीं पाता, तब केवल अपनी लिखी पुस्तकों का ही पाठ करता रहता हूँ। इस की वजह यह भी है कि इन के पाठक बहुत कम हैं, इस लिए ये हर वक्त लायब्रेरी में मिल जाती हैं। इन्हें वहाँ इस स्थिति में पड़ा देख कर भी जी को चैन मिलता है कि मेरा नाम भी लेखकों में शुमार हो गया है; लेकिन स्वाधीनता के बाद हिन्दी के लेखक साहित्यकार कहलाने लगे हैं। साहित्यकार लेखक से बड़ा समझा जाने लगा है। लेकिन एक छोटा शहीद होने का भी निजी सन्तोष होता है।

●

मैंने पुस्तकों के बारे में अनेक मुहावरे तथा सूक्तियाँ पढ़ रखी हैं—जैसे मित्र धोखा दे जाते हैं, पुस्तकें नहीं; पुस्तकें अनमोल रत्नों की खान हैं और ज्ञान-विज्ञान का अथाह सागर हैं। कुछ किताबें चखने लायक़ होती हैं, कुछ निगलने लायक़ और कुछ पचाने लायक़। अब न तो इन के चखने में मज़ा है और न ही इन के निगलने में स्वाद। इन के पचाने से अपच हो जाता है। जवाहरलाल नेहरू

इस लिए उदास हो जाते थे कि भारत में किताबें पढ़ने का रिवाज बहुत कम है। मैं आज इस लिए उदास हूँ कि इन से उकता गया हूँ, पुस्तकों के ही संसार में रहते-रहते जीवन से कट गया हूँ। मेरे कुछ मित्र इन से उचाट नहीं हुए हैं। इन में एक ज्ञान का चलता-फिरता कोश है और दूसरा साहित्य का। इन से कभी-कभार जब मिलने का अवसर मिल जाता है तब लगता है कि इनसान से मिलने के बजाय कोश से साक्षात्कार कर रहा हूँ। इन की बातों में अपनापन नहीं, परायापन होता है। हर बात किसी आदमी का नाम ले कर की जाती है। हर बात के लिए किसी और की राय देना बैसाखियों के बल पर चलने के समान है, जो मुझे अब अखरने लगा है। मैं भी इन का सहारा लेकर अब तक चलता आया हूँ। स्वयं सोचने की आदत पड़ने नहीं दी, अपना मत बनाने का कष्ट नहीं उठाया। इस तरह धीरे-धीरे इनसान से मशीन बनता आया हूँ। आज के मशीनी युग में पुरज़े की ही अधिक क़दर है। इसलिए आज फिर से व्यक्तित्व की खोज होने लगी है, निजता को पाने की फिर से भावना होने लगी है। इन पुस्तकों ने जहाँ ज्ञान का विस्तार किया है, वहाँ मानवीयता का संकोच भी। इस लिए शायद आज सृजनात्मक शक्ति मन्द पड़ने लगी है।

●

इन से उकताने की एक वजह और भी है। इन का इतनी तादाद में छपना पाठक को परेशान कर देता है। हर भाषा में इन के छपने के आँकड़े भी निकलने लगे हैं। हर पुस्तक की तारीफ़ होने लगी है। इस लिए पाठक की सब से बड़ी समस्या इन के चयन की है। क्या पढ़े और क्या न पढ़े? जीवन की अवधि छोटी है और पुस्तकों की सूची लम्बी। वह युग भी एक दृष्टि से कितना अच्छा था जब ग्रन्थ प्रकाशित न हो कर हस्तलिखित होते थे। उस युग में कूड़ा-करकट की सम्भावना बहुत कम थी। हर लेखक या चिन्तक अपने को मौलिक नहीं समझता था। आज पुस्तकों का व्यवसाय है और व्यवसाय में मिलावट चलती है, प्रचार होता है और गुमराह करने की शक्ति होती है। इस लिए इन से मेरा उकता जाना स्वाभाविक है। आज पुस्तकालयों में किताबों से ठसी आलमारियों को देख कर चकित हो जाता हूँ, दूकानों में इनके सटे अम्बारों से विस्मित हो जाता हूँ, नित-नये प्रकाशकों की भीड़ से घबराने लगता हूँ। इतना पढ़ते-पढ़ते थक भी गया हूँ। एक थके पथिक की तरह विश्राम चाहता हूँ। यह भी अनुभव करने लगा हूँ कि

इतना पढ़ने का परिणाम सिफ़र निकला है, किसी मंज़िल पर नहीं पहुँचा हूँ। अब इसे पाने की सम्भावना कम होती जा रही है। अधिक पढ़ने से संकुलता ही गहराई है, जटिलता ही बढ़ी है। दुनिया की महफ़िलों से उकता कर जिस तरह पुस्तकों की सभा में चला आया था उसी तरह पुस्तकों से उकता कर अब चिन्तन-मनन के नीड़ में जाने को जी चाहता है, पुस्तकों को खा-पीकर अब एक गाय की तरह जुगाली करने को मन होता है।

सभापति का भाषण

यह भाषण मुझे सुनना अधिक पड़ा है, देना कम और दोनों स्थितियों में यह अवसर विनोद का कारण नहीं रहा है। सभापति की कुरसी पर या कभी-कभी आसन पर बैठने का अवसर मुझे बहुत कम मिला है। यह इस लिए कि जब तीन बड़े आदमी सभापति बनने से किसी कारण इनकार कर देते थे तब मुझे निमन्त्रण दिया जाता रहा है। कभी-कभार ये जब समय पर पहुँच नहीं पाते थे तब अस्थायी रूप से मुझे कुरसी या आसन पर बैठने के लिए कहा जाता था। मैं भी इस अवसर की ताक में रहता था। मैं जानता था कि देर में पहुँचना बड़ा होने की निशानी होती है। अब स्थिति बदल चुकी है और मेरी जगह चौथी से दूसरी हो गई है। मुझे इस स्थिति से भी सन्तोष है। मेरे इतने साथी हैं जो हर लिहाज से सभापति बनने के अधिक लायक़ हैं। लेकिन अभी तक इस कुरसी पर बैठने का इन्हें अवसर ही नहीं मिला है। वे देखने में अधिक रोबदार हैं, बोलने में अधिक चतुर हैं, समय से पहले ही पहुँच जाते हैं, पहनते भी बेहतर हैं और सभापति लगते भी हैं। वे सभापति बनने के इस लिए भी अधिक योग्य हैं कि उन की जानकारी किसी विषय पर आवश्यकता से अधिक नहीं है। इस लिए वे हर विषय पर अपना भाषण दे सकते हैं।

मेरे शहर में इस तरह के एक जन्मजात सभापति थे। वह हर सभा में जाते थे और हर विषय पर दो-चार चुटकुले, दो-चार शेर सुनाकर अपना भाषण दे डालते थे। असल में सभापति का असली काम भी यही है कि वह सुनने वालों का अन्त में मनोरंजन कर सके। उसे सभापति इस लिए भी बनाया जाता है कि मंच पर ख़ाली कुर्सी बुरी लगती है, उसे भरना होता है। एक बार वह संगीत की सभा के पति बने हुए थे। मुझे विस्मय इस लिए हुआ कि वह संगीत के सरगम तक को नहीं जानते थे। इस का राज़ जब मैं ने उन से पूछा तो थोड़ा सीधे हो कर कहने लगे कि सभा को दान दिया है। इस तरह दान देने वाला सभापति बनने का अधिक अधिकारी होता है। इन के भाषण का विषय संगीत न हो कर धन्यवाद था और धन्यवाद देने की कला में वह कुशल थे। सब को एक-एक कर के याद करना

आभार-कला की विशेषता मानी जाती है। आभार अनुभव करना भाषण में इतना महत्त्व नहीं रखता जितना इसे व्यक्त करना। एक और सभापति हैं जो अपने हर भाषण की तान रवीन्द्रनाथ की किसी पंक्ति पर तोड़ते हैं; एक तीसरे हैं जो वेद के मन्त्रों से उपदेश देने लगते हैं। इस तरह सभापतियों के लिए स्मरण-शक्ति का तेज़ होना उतना ही आवश्यक है जितना इन का बड़ा होना। कुछ सभापतियों को कहानियाँ कहनी आती हैं और ये अधिक सफल होते हैं। इन में मनोरंजन करने की क्षमता होती है। सुनने वालों के स्तर को जानना और इन की नब्ज़ को पहचानना सभापति का काम है। इस लिए उसे अपने मन की बात कहनी नहीं होती, दूसरों के मन की करनी होती है। यही तो साधारणीकरण का सिद्धान्त है। अगर वह सुनने वालों से थोड़ा हट कर या थोड़ा उठ कर अपना भाषण देने लगता है तो एक-एक करके या कभी-कभी एकदम लोग उठ कर चल देते हैं। एक बार सभापति को मैं ने केवल पाँच सुनने वालों को भाषण देते हुए पाया है जिन में मैं एक था। उन की बात मेरी समझ से बाहर थी, लेकिन मुझे इसे इस लिए सुनना पड़ा कि मैं ने ही सभा का आयोजन और सभापति का चयन किया था।

●

अब तक मैं ने अनेक सभापतियों के भाषण सुने हैं, लेकिन मुझे इसे देना नहीं आया है और शायद यह आ भी नहीं सकता है। इस का कारण शायद यह हो सकता है कि मैं स्वभाव से उपदेश या सन्देश देने का आदी नहीं हूँ और न ही सुनने वालों का मनोरंजन कर सकता हूँ। न ही उपदेशक बनने की चाह है और न ही विदूषक। एक बनने के लिए मुँह लटकाना पड़ता है और दूसरा बनने के लिए दाँत निकालने पड़ते हैं और दोनों ही मेरे लिए सहज नहीं है। बात की शैली में बात करना सहज होता है और यह मुझे आता भी है, लेकिन इसे भाषण नहीं माना जाता। भाषण देने के लिए यह भी ज़रूरी होता है कि सुनने वालों की अक्ल को छोटा समझा जाये और सभापति को अक्सर यह मानना भी पड़ता है। मेरे लिए बाधा यह है कि मैं हर व्यक्ति की अक्ल को अपनी से अगर बड़ी नहीं तो छोटी भी नहीं समझता। मैं अपनी कमज़ोरी को जानता हूँ। इस लिए बात-चीत तो कर सकता हूँ, लेकिन भाषण नहीं दे सकता। बातचीत से मुझे निकटता और आत्मीयता का एहसास होता है और भाषण से दूरी और परायेपन का। इस

लिए भाषण देना सीख कर मैं इस आत्मीयता को खोना नहीं चाहता और बात-चीत की शैली को छोड़ना नहीं चाहता। बातचीत करने में सोच से भी काम लिया जा सकता है, लेकिन भाषण देने में तो केवल गला काम में आता है। मेरा गला कमज़ोर है। इस लिए सभापति बनने से कतराता हूँ, भाषण सभा का विनोद नहीं रहा, सभा का भार होता जा रहा है। अब कभी-कभी इसे सभा के अन्त में नहीं बीच में दिया जाने लगा है, ताकि लोग उठ न जायें। इस लिए इसे सुनने की बजाय इसे सहन करना पड़ता है। जब कभी मुझे सभापति बनने के लिए मजबूर किया जाता है तो मैं भी अपनी बात बीच में करना ही पसन्द करता हूँ। इतनी बात करने के लिए दो-दो तीन-तीन घण्टे सभापति को भी बोर होना पड़ता है। और लोग तो आपस में बोल और हँस कर अपनी बोरियत को कम कर लेते हैं, लेकिन बेचारे सभापति को अकेले ही चुपचाप मंच पर बैठना पड़ता है। इतनी साधना उसे इस लिए करनी पड़ती है कि वह भाषण दे सके।

●

इन भाषणों के अपने-अपने रंग होते हैं। एक सभापति को बार-बार यह दोहराते हुए सुना है कि वह विदेश हो आया है। हर भाषण में वह विदेश-यात्रा के किसी संस्मरण को घसीट लाते हैं। भाषण संगीत पर हो या साहित्य पर, राजनीति पर या विदेश-नीति पर, संस्कृति पर हो या इतिहास पर—वह अपनी विदेश-यात्रा का हवाला देना भूलते नहीं हैं। वह दस साल पहले दस दिनों के लिए विदेश गये थे और इतना कुछ वहाँ से वह बटोर लाये हैं कि यह सौ भाषणों के काम आ सकता है। असल में वह भूगोल और इतिहास की खूब जानकारी रखते हैं और इस जानकारी से वह अपनी विदेश-यात्रा को जोड़ लेते हैं और इसे अपनी बना कर भाषण दे डालते हैं। एक और सभापति हैं जो किसी ज़माने में शिकार खेलने का शौक़ रखते थे। वह अपने हर भाषण में शिकार का हवाला देना भूल नहीं पाते हैं और संगीत या साहित्य पर बात करते-करते वह शिकार पर उतर आते हैं। जब जंगल में शिकार न मिले तो संगीत बड़े काम आता है और शिकारी-साहित्य में साहस पैदा करने की शक्ति होती है। एक तीसरे सभापति हैं जिन के हर भाषण में भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव का बखान होता है। वह आधु-निक विज्ञान तथा इसके आविष्कारों पर भाषण देते-देते नयी खोज को अतीत में खोज निकालते हैं। वह पेनिसिलीन की खोज को महाभारत के युग से जोड़ देते

है। भीष्म पितामह बावन दिन तक बाणों की शैया पर घायल पड़े रहे और पेनिसिल्लीन के कारण इन के घावों में विष का संचार नहीं हुआ। आज के अणु या परमाणु के विस्फोट पर बात करते-करते वह रामायण के अग्नि-बाणों पर उतर आते है। इस तरह वह अपने अध्यक्षीय भाषण में यह सिद्ध कर देते हैं कि नया कुछ भी नहीं है, सब कुछ पुराना और भारतीय है। एक चौथे रंग का भाषण जो मैं ने सभापति से बार-बार सुना है वह शायरी से भरा हुआ होता है। हर विषय पर एक-एक शेर या बन्द याद कर रखा है। इस लिए इन के भाषणों में रस होता है। एक शेर का दूसरे से सम्बन्ध चाहे न हो, लेकिन वह इसे जोड़ लेते हैं। आज की शायरी से वह नफ़रत करते है। यह भाषणों के काम नहीं आती और न ही इसे याद किया जा सकता है। इन के अनुसार कविता तीन तरह की होती है—एक वह जो दिल में रहती है, दूसरी वह जो दिमाग़ में और तीसरी वह जो गले से निकलती है। सब से बेहतर कविता कण्ठ की होती है। इसे सुनाया जा सकता है। भाषण भी तो सुनने-सुनाने की चीज़ होती है। इस का नाता दिमाग़ से न हो कर गले से है, विचार से न हो कर आवाज़ से है, अर्थ से न हो कर शब्द से है। इस लिए सभापति के भाषण में शब्द ही ब्रह्म होता है।

रद्दी-टोकरी

इस टोकरी के बारे में इतना ही कह सकता हूं कि यह मेरे जीवन का एक अंग है और मैं इस का आभारी हूं। यह इस लिए नहीं कि इस समय मेरे पास यह सब से पुरानी चीज़ है और पुरानी चीज़ से मेरा लगाव उतना ही बढ़ता जाता है, जितना पुराने विचार या व्यक्ति से घटता जाता है। इस टोकरी से अधिक पुराना केवल मैं हूं और मैं वस्तु न हो कर व्यक्ति हूं। इस लिए अपने से भी मोह कम होता गया है। इस से अधिक पुरानी चीज़ों को पाकिस्तान में छोड़ना पड़ा है। इन की याद अब भी कभी-कभी ताज़ा हो उठती है। मेरा नया रेडियो पुराने से बेहतर है, मेरी नयी कलम पुरानी से अधिक महंगी है, मेरी नयी कुरसी पुरानी से अधिक आरामदेह है। और कभी-कभी मुझे यह भी लगता है कि इस टोकरी की वजह से मेरा दिमाग़ पुराने से अधिक साफ़ और खाली है। इस का कारण रद्दी-टोकरी इस लिए है कि यह खुद रद्दी न हो कर रद्दी की है या रद्दी कागज़ों के लिए है। यह बाहर और भीतर के जीवन को उलझने नहीं देती, इसे साफ़ रखने में सहायता देती है। यह न तो उन बेकार कागज़ों का अम्बार लगने देती है, जिन में मैं उलझ जाता था और न ही उन बेकार विचारों में खोने देती है, जिन में मैं अटक जाता था। अब मैं हर पत्र को संजोने के बजाय इसे पढ़ने और उस का जवाब देने के बाद फाड़ कर इस में डाल देता हूं, हर निमन्त्रण को स्वीकारने या अस्वीकारने के बाद इस में छोड़ देता हूं और हर इश्तहार को बिना पढ़े इस में फेंक देता हूं। यह हर दूसरे-तीसरे रोज़ फटे कागज़ों से उसी तरह अट जाती है, जिस तरह दिमाग़ अम्बारी विचारों से। इसे खाली करना इसलिए ज़रूरी हो जाता है कि यह मेरे दिमाग़ की तरह छोटी है और इस में बहुत कुछ समा नहीं पाता। इसे बार-बार खाली करना इस लिए आवश्यक हो जाता है कि बेकार ज़िन्दगी कहीं बेकार चीज़ों के बोझ से अधिक भारी न बन जाये। भारतीय रेलवे का भी बोझ के बारे में यही उपदेश है, परन्तु इस का पालन बहुत कम होता है। उपदेशों के पालन का युग ही बीत गया लगता है। तीसरे दरजे के डिब्बों में इस बात का पूरा एहसास हो जाता है कि देश की आबादी न केवल देश के लिए भार

बनती जा रही है, अपने लिए भी। धरती ही इतना बोझ उठा सकती है। इसी लिए यह शायद माँ है।

•

मेरे पास जब यह टोकरी नहीं थी, तब जीवन में संकुलता अधिक गहरी थी। पत्रों के अम्बार लगे रहते थे, पत्र-पत्रिकाओं की तहें जमी रहती थीं, इश्तहारों के ढेर लग जाते थे। अनछपे लेखों के पन्ने जमा हो जाते थे। एक दिन यह टोकरी जन्मदिन के अवसर पर मुझे भेंट में मिली। मेरे मित्र ने यह अनुभव किया कि मुझे इस की बड़ी आवश्यकता है। उस ने मुझे एक दिन पुराने पत्रों से घिरा हुआ पाया और एक दिन पुरानी पत्रिकाओं के पन्ने उलटते हुए देखा। मेरे पिता का भी जब मन उदास हो जाता था, तब वे बन्द बक्सों को खोल कर नये-पुराने कपड़ों की फिर से तहें लगाने लगते थे। इस तरह वह अतीत को जीवित कर लेते थे। मैं भी अपने पिता की तरह आगत से भागने के लिए पुराने पत्रों, पत्रिकाओं को खोल बैठता था। अनागत में अन्धकार था और आगत से भय। इस लिए विगत में रमने के सिवाय और चारा ही क्या था! मुझे यह मालूम नहीं था कि आगत का सामना करने के लिए और विगत से छुटकारा पाने के लिए यह टोकरी कितने काम की हो सकती है। इस के आने के बाद मेरा जन्मदिन दूसरे जन्म के समान हो गया है। एक नये बोध ने जन्म लिया है और इस नवजात बोध की जननी यह रद्दी-टोकरी है। सब पुराने पत्रों को दोबारा पढ़ कर यह पाया कि इन में एक भी रखने लायक नहीं है, पुराने लेखों को फिर से देखने पर यह लगा कि इन में एक भी छपने योग्य नहीं है, पुराने इश्तहारों पर एक और नज़र डालने पर यह महसूस हुआ कि इन में एक भी काम का नहीं है। इस वज़न पर पुराने विचारों को फिर से आँकने पर यह तय किया कि इन में एक भी चिपकाने लायक़ नहीं है। इस तरह मेरी संकुलता में कमी आने लगी। इस संकुलता से पूरी मुक्ति पाना सम्भव नहीं जान पड़ता। कारण, टोकरी छोटी है और यह नीचे से फट भी गयी है। अब तो मैं इस का इतना आभारी हूँ कि इसे छोड़ने को जी नहीं चाहता।

•

इस टोकरी के बिना भी जीना कठिन हो गया है। पत्रों का आना किस तरह बन्द किया जा सकता है? इन का जवाब न देना भी बड़े आदमियों को ही शोभा

दे सकता है। पत्रिकाओं का छपना और भेजना भी किस तरह रोका जा सकता है? और इश्तहारों की तो बात ही अपनी है, युग ही इन पर जीता है। हर रोज़ डाक का इन्तज़ार रहता है। किसी दिन दो-दो, तीन-तीन बार अपना लेटर-बक्स खोलना पड़ता है। लेटर-बक्स टोकरी से बड़ा है। इतवार को भी डाक के बजाय डाकिये के आने की आशा बँध जाती है, लेकिन देश की स्वाधीनता ने इतवार के दिन डाकिया को आराम दे कर डाक पाने वाले के दिन को खाली कर दिया है। इतवार को या किसी और दिन जब डाक नहीं आती, तब उस पागल की तरह महसूस होने लगता है, जिसे गाँव के छोकरे गालियाँ नहीं देते और वह समझने लगता है कि सब मर चुके हैं? इस तरह डाक अगर आती है तो बुरा और अगर नहीं आती तो अधिक बुरा। डाक न आने पर खाली टोकरी बुरी तरह अपना मुँह खोले रहती है और अधिक आने पर यह अपच का शिकार हो जाती है। मेरे एक मित्र को शाम के वक़्त दरबार लगाने की आदत पड़ चुकी है। अगर अधिक लोग मिलने आ जाते हैं, तो इन की बेचैनी बढ़ जाती है और किसी शाम अगर एक भी नहीं टपकता, तो किसी को बुलाने के लिए सन्देश भेजा जाता है। यही हाल मेरा और मेरी टोकरी का है। इस तरह स्थिति मिले तो पछतावे और न मिले तो पछतावे की है।

•

इस टोकरी का मैं इस लिए भी आभारी हूँ कि इस ने मुझे लोगों की कड़वी बातों को याद करने से बचाया है, इन के उलाहनों को सुरक्षित रखने से निजात दी है, अपने लेखों पर खीजने से छुटकारा दिया है। इस ने मुझे यह सीख दी है कि जीवन में बहुत कुछ रद्दी होता है, जिसे फेंका जा सकता है, बहुत कुछ फालतू होता है, जिसे फाड़ा जा सकता है, बहुत कुछ बेकार होता है, जिसे जलाया जा सकता है। एक पुरानी बात याद आ रही है। एक बार आज के विश्वविद्यालयों में शोध या खोज के स्तर को आँकते हुए एक चिन्तक ने यह कहने का साहस किया था कि अगर इस सारे काम को रद्दी-टोकरी के हवाले कर दिया जाये, तो हानि कम होगी और लाभ अधिक होगा। इसी तरह हिन्दी शोध के सम्बन्ध में एक आलोचक ने यह कहने की गुस्ताखी की थी कि यदि एक पुस्तक से उतारा जाये तो साहित्यिक चोरी का अपराध लगाया जाता है और यदि बीस से उतारा जाये तो डॉक्टर की उपाधि मिल जाती है। मेरा इस मत से सहमत होना

इस लिए कठिन है कि यह पाप मैं भी कमाता हूँ। इस स्थिति का मूल कारण वास्तव में रद्दी की टोकरी का न होना है। यह टोकरी ही नीर-क्षीर का काम कर सकती है। एक भावी साहित्यकार से मेरा परिचय है, जिस ने पिछले दस साल से अपनी लिखी कतरनों को सँभाल कर रखा हुआ है। इस के आधार पर वह मौलिक लेखक बनने की सोचता रहता है। उस का विश्वास भी मेरी तरह डोलने वाला नहीं है। यदि उस के पास यह टोकरी होती, तो उस का विश्वास शायद इतना दृढ़ न होता। इस के मिलने पर मेरा विश्वास तो गिरता ही गया है। इस के बावजूद मैं इस का आभारी हूं। अपने आभार को इस तरह व्यक्त कर मैं ने इस लेख को भी टोकरी को सौंप दिया। इन पन्नों को फाड़ना भूल गया। मेरे नौकर ने अंगीठी जलाने के लिए इन साबित पन्नों को अलग कर टोकरी ख़ाली और साफ़ कर दी। जब इन को दोबारा पढ़ा, तो मुझे लगा कि ये इतने बुरे नहीं है, जितने मैं समझता था या आप समझते हैं।

चोट पीने पर

मैं ने बचपन में सुन रखा था कि मंगल और शनि के दिन भारी पड़ते हैं, ये अशुभ होते हैं और बाकी सब दिन शुभ। इस लिए मैं मंगल और शनि से डरता आया हूं, लेकिन अब सोमवार से भी भय खाने लगा हूं। इस का कारण यह है कि इस दिन मेरे घटनाहीन जीवन में एक ऐसी घटना घटी थी, जब मैं मौत के मुंह में लगभग चला गया था। यह तो मैं जानता हूं कि मेरे व्यक्ति की नियति मृत्यु है, लेकिन जीवन अभी थोड़ा और भोगना था, इस लिए बच निकला। उस दिन सुबह बड़े आराम और विश्वास के साथ स्कूटर पर जा रहा था कि एक कालेज के सामने एकदम बुरी तरह उस से गिर पड़ा। कालेज भी लड़कों का था, लड़कियों का नहीं, रफ्तार भी कम थी, अधिक नहीं। अब तक मुझे पता नहीं चला कि मैं किस तरह गिरा था, लेकिन पूछने वाले या सहानुभूति दिखाने वाले मेरे इस जवाब से कैसे सन्तुष्ट हो सकते थे। इस लिए मुझे इस घटना के बारे में एक के बाद दूसरी कहानी गढ़नी पड़ी, ताकि उन की पूरी तसल्ली हो सके। जब इस व्यक्तिगत घटना के बारे में सत्य को पाना इतना कठिन था, तब दूसरों के बारे में सत्य पाना कितना मुश्किल हो सकता है, इस का मुझे गहरा अनुभव हो गया। इस लिए अब अफ़वाहों से मेरा विश्वास उठ गया है, इन में मेरी आस्था गिर गयी है।

•

मैंने चोट पीने की बात जान-बूझ कर कही है। आम तौर पर चोट का लगना होता है, कभी-कभी इसे खाना भी होता है, लेकिन मुझे चोट पीना था। जब मुझे अस्पताल में लाया गया, तब मैं दर्द को पी रहा था। चोट ताज़ा थी, इस लिए कराह नहीं रहा था। एक परिचित डाक्टर ने संयोगवश जब मुझे खून से लथपथ देखा तो वह मुझे किसी तरह आपरेशन की मेज़ पर ले आया। मेरे मुंह पर चुंधियाने वाली रोशनी और आंखें बन्द! उस समय यह कहना कठिन था कि आंखें सदा के लिए बन्द हो गयी थीं या थोड़ी देर के लिए। मेरे कान अवश्य खुले थे। इस लिए मैं एक आदमी और एक औरत की आपसी बात सुन रहा

था। मैंने अनुमान लगाया कि इन में एक डॉक्टर होगा और दूसरी नर्स। वे मेरे घावों को सीने की सलाह कर रहे थे। टाँके लगाने के लिए घायल चेहरे के मांस को जड़ बनाया जाये या नहीं? मेरे मुंह से अचानक निकल गया कि मैं टाँकों की पीड़ा को अनुभव करना चाहता हूँ। मुझे इतना एहसास अवश्य था कि इस तरह के अवसर जीवन में बहुत कम मिलते हैं। पीड़ा की कल्पना को तो अभिव्यक्ति मिल ही जाती है, लेकिन दर्द की वास्तविक अनुभूति कभी-कभार ही मिलती है। इस लिए इस अवसर को खोना शायद सदा के लिए खोना होगा। यही वजह है कि मैंने चोट पीने की बात कही है। मुहावरा ग़लत हो सकता है, लेकिन बात सही है; अभिव्यक्ति विकृत हो सकती है, लेकिन अनुभूति सच्ची है। हर टाँका पीड़ा की एक-एक लहर था, जो पाँव से सिर तक दौड़ जाती थी और मैं चोट को घूंट-घूंट कर के पी रहा था। डॉक्टर को मन में धन्यवाद भी दे रहा था, जिस ने मेरी चाह को ठुकराया नहीं था। आज भी मैं उस के आभार को भुला नहीं पाया हूँ। उस ने मुझे चोट पीने का अवसर दिया था। आज भी जब अपने चेहरे पर दाग़ देखता हूँ तब पुरानी अनुभूति ताज़ा हो जाती है। और दाग़ से किस की ज़िन्दगी बची है! हर व्यक्ति के या तो दाग़ भीतर है या बाहर लगा हुआ है। मेरे यह मुंह पर लगा हुआ है, ताकि सब इसे देख सकें।

●

इस तरह चोट पीने की अनुभूति जब ताज़ा हो जाती है तब अस्पताल का दृश्य भी सजीव हो उठता है। इस बीच घावों को सिया जा चुका था। मुझे कमरे में डालने के लिए जब लाया गया, तब वहाँ मेरे छात्रों की भीड़ मेरा इन्तज़ार कर रही थी। स्कूटर से गिरने का समाचार इन को मिल चुका था। अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए, मुझे सहानुभूति देने के लिए, कुछ हाज़िरी लगवाने के लिए और कुछ शायद बोरियत से अस्थायी मुक्ति पाने के लिए वे मेरे कमरे में जमा हो गये। मेरा मुंह खोलना इस लिए निषिद्ध था कि इस से टाँके खुलने का भय था। एक बड़े राजनीतिक नेता या एक घायल किन्तु विजयी सेनानायक की तरह मैंने हाथ जोड़ सब का अभिवादन किया। मैं विजयी इस लिए अनुभव कर रहा था कि दोनों आँखें साबित थीं और मौत से इस बार बच निकला था। लेकिन नर्स मुझे घूर-घूर कर देख रही थी। इतनी भीड़ अस्पताल के नियमों के विरुद्ध थी और मेरी सेहत के लिए घातक भी। इस में मेरा

क़तई दोष नहीं था; लेकिन मैं लाचार था। मैं स्वयं भीड़ से कतराता रहा हूँ। जन-समूह में नेता ही पनपते हैं। मैं तो इने-गिनों से ही आत्मीयता स्थापित कर सन्तोष पा लेता हूँ। अनेक से सतही सम्बन्ध बनाना मुझे इतना नहीं भाता, जितना एक से गहरा नाता जोड़ना। भीड़ में मैं और अकेला अनुभव करने लगता हूं। यह इस लिए कि मैं व्यक्ति को ही अधिक स्नेह दे सकता हूँ, समष्टि को नहीं। यह मेरी कमज़ोरी है, जिससे मैं असन्तुष्ट भी नहीं हूँ। इने-गिनों से मुझे आत्मीयता की अनुभूति का आभास मिलता है। आज की भीड़ों में इस का आभास भी विरल हो रहा है और आज इस का आभास मात्र जीने के लिए काफ़ी है। अस्पताल का कमरा इस आत्मीयता से वंचित होता है। अगर इस में अधिक समय रहा जाये, तो यह अपना भी बन सकता है; लेकिन मैं इसे अभी अपना नहीं बनाना चाहता था। इस लिए अपने कमरे में लौटने की व्याकुलता ने मुझे घेर लिया। इस का एक-एक कोना मेरा परिचित है। अपरिचित कमरे से निकलना मेरे वश में नहीं था। इस लिए मैंने परिचित डॉक्टर की खुशामद की और मुझे उसी दिन मुक्ति भी मिल गयी। आज जो खुशामद है, पहले वह भक्ति थी। मेरी और भक्त की साधना में विशेष अन्तर नहीं था। मैं ने भी तो चोट को पिया था। यह मुक्ति शायद चोट पीने का परिणाम थी। अगर मैं ने इसे खाया होता तो इस की परिणति शायद मोक्ष में न होती। अपने कमरे में पहुँच कर मैं ने सन्तोष की साँस ली और इस की आत्मीयता ने मेरी पीड़ा को सहलाना शुरू कर दिया।

●

अब अपने मकान में मैं था, मेरा नौकर और मेरा कमरा। मेरी देखभाल के लिए मेरा छोटा भाई उस रात दूसरे कमरे में सोया हुआ था जिसे सुबह उठ कर मैं ने जगाया। एक पढ़ाने वाले का जीवन केवल उस से पढ़ने वालों तक सीमित नहीं होता है, वह इन के परिवार और मित्रों से भी जुड़ा हुआ होता है। यह पढ़ाने वाले की खुशक़िस्मती भी है और बदक़िस्मती भी। वह समाज में इतना बँधा हुआ होता है कि कभी-कभी चाहने पर भी वह उस से कट नहीं सकता। उसका व्यक्तिगत जीवन अक्सर सिफ़र हो जाता है। सुबह होते ही कुशल समाचार पाने वालों का ताँता लगना शुरू हो गया। इन में से एक शोधक अपनी थीसिस दिखाने के लिए बहुत दूर से आ टपकी। उसका दोबारा आना कठिन था।

इसलिए वह जम गयी। मैं छुट्टी पर था और नहीं भी था। जब तक बाक़ायदा तौर पर पढ़ाने नहीं गया तब तक बाक़ायदा तौर पर उसे काम करवाना पड़ा। इस तरह अपनी चोट को भुलाना रहा। लेकिन मुंह पर बंधी पट्टी को किस तरह भुलाया जा सकता था। हर दूसरा व्यक्ति इस घटना का कारण जानना चाहता था और कारण मुझे भी पता नहीं था। इस लिए कभी ट्रक वालों को इस का दोषी ठहराता, कभी पैदल चलने वालों को तो कभी अपने स्कूटर को जिस की ब्रेक ढीली थी। जब मुझे यह सूझा कि एक सायकिल सवार लड़की को बचाने की कोशिश में यह घटना घटी है तब इस से पूछने वाले को सन्तोष भी होता था और असन्तोष भी। मेरा सन्तोष शायर की इन सतरों से पूरा न हो सका—

दर्द से वाक़िफ़ न थे, ग़म से शनासाई न थी।
वो भी क्या दिन थे, तबीयत जब कहीं आयी न थी।
चोट वो खायी अब कि जो कभी खायी न थी।

इस की वजह यह थी कि चोट खायी नहीं थी, उसे पिया था।

पुराने ख़त

अगर बरसात की किसी लम्बी और उदास शाम को बाहर निकलना दूभर हो जाये और न ही बाहर से किसी के टपकने की आस रह जाये तो शाम भारी पड़ने लगती है। एक भरे-पूरे परिवार में इसे बिताने के अनेक साधन जुटाये जा सकते हैं। अगर खान-पान आज कल महँगा हो रहा है तो बहस करने या ताश खेलने में कुछ मोल नहीं लगता। मेरे पिता इस तरह की शाम को घर के बक्सों को खोल बैठते थे और पुरानी चीज़ों को नई तरतीब देकर इसे बिता लेते थे। मेरे पास पुरानी चीज़ों की कमी तो हो सकती है, लेकिन पुराने कागज़ों की नहीं जिनको नयी तरतीब दी जा सकती है। एक बार कागज़ों को उलटते-पुलटते पुराने खतों का एक बड़ा बण्डल हाथ लग गया। इसे देख कर मेरा हैरान होना स्वाभाविक था। आम तौर पर जवाब देते ही खतों को फाड़ने की आदत मैं ने डाल रखी है ताकि ज़िन्दगी कहीं और बोझिल न हो जाये और रहने की छोटी-सी जगह कहीं और छोटी न पड़ पाये। इन खतों के आधार पर न तो मुझे अपनी दास्तान लिखनी है और न किसी और को मेरी जीवन-कथा। इन के बल पर साहित्य-कारों में अपना नाम भी नहीं लिखवाना है जिस की तैयारी होनहार लेखक पहले से ही करने लगते हैं। वे अपने खतों की नकलें भी संभाल कर रखते हैं। मुझे पता नहीं चल रहा था कि पुराने खतों का बण्डल रद्दी टोकरी में जाने से किस तरह बच गया। इस लिए एक-एक चरमराते खत पर सरसरी निगाह डालना आवश्यक हो गया।

इन खतों को देखने में मैं इतना उलझ गया, मन अतीत में इतना डूब गया कि बरसात की शाम का बोध ही नहीं रहा। एक बार अतीत जब जीवन पर हावी हो जाता है तो इस से उबरना मुश्किल पड़ जाता है। और विशेषकर भारतीय जीवन पर जब यह छा जाता है तो हर संकट में इस का सहारा लेना पड़ता है। इस बण्डल या भानुमति के पिटारे में हर तरह के पत्र थे—कुछ छोटे और कुछ बड़े, कुछ सफ़ेद कागज़ पर और कुछ रंगीन कागज़ पर, कुछ टंकित और कुछ

हस्तलिखित, कुछ पोस्टकार्ड और कुछ लिफ़ाफ़े जिन का मज़मून बाहर से ही भांप लिया जाता है। इन में कुछ मित्रों के तकाज़े थे और कुछ अमित्रों की खरी-खोटी बातें, कुछ गिले थे और कुछ शिकायतें, कुछ परिचितों की फ़रमायशें थीं और कुछ बड़ों के मशविरे, कुछ नौकरी पाने के पत्र थे और कुछ इसे खोने के। इस बण्डल का अधिकांश नये सालों और दीवालियों की बधाइयों से भी भरा हुआ था जिन को हर साल दोहराया जाता है। लड़कों ने सस्ते में काम चला लिया था और लड़कियों ने मँहगे में। अगर कार्ड मँहगा हो तो मुबारिक वज़नदार होती है और नाम या पता क़रीने से लिखा जाये तो यह स्नेह-सराहना का भी सूचक होता है। मुझे यह भी लगा कि हर साल इन की तादाद बढ़ती रही है। एक बड़े लिफ़ाफ़े में थोड़े-से पत्र थे। इन को अलगाने का कारण पहले तो समझ में नहीं आया; लेकिन बाद में पता चला कि इन में आत्मीयता का स्वर है। एक ने लिखा था—"आप उस व्यक्ति को जानते हैं जिस से मैं शादी करना चाहता हूँ। उस की माँ की अनुमति दरकार है जिसे आप दिलवा सकते हैं।" एक और का कहना था, "मेरे माँ-बाप ने मेरी मँगनी अनचाहे लड़के से कर दी है जिसे आप चाहें तो तुड़वा सकते हैं।" एक तीसरे ने पत्नी से तलाक़ लेने में मेरी सहायता गवाही के तौर पर माँगी थी। यह वही मित्र था जिस की शादी के समय मैं ने गवाह के रूप में दस्तख़त किये थे और पत्नी को ले कर वह मोर की तरह कचहरी से निकला था। इस तरह कुछ पत्रों में दोस्तों के उधार माँगने की बात थी। इन ख़तों पर अगर रसीदी टिकिट भी लगी होती तो इन को सँभाल कर रखना बेकार था। उधार चुकाने की कानूनी अवधि भी बीत चुकी थी। इन को सुरक्षित रखना उन तंग जूतों और छोटे कोटों की तरह था जिन को पहनने वाला मेरा छोटा भाई था जो अब बड़ा हो चुका है, यह गिला अब तक क़ायम है कि उसे बचपन और जवानी में न तो नया कोट पहनने को मिला और न ही नया जूता। इस का दोषी वह मुझे यह कह कर ठहराता है कि मैं उससे पहले पैदा क्यों हो गया। वह यह भूल जाता है कि घर में साधन भी सीमित थे। इस तरह के आत्मीय ख़तों को देखकर मुझे यह वहम होने लगा कि मैं भी विश्वास का पात्र बन सकता हूँ, मैं भी राज़ की बात पेट में रख सकता हूँ। यह वहम अधिक समय तक क़ायम न रह सका। अगले पत्र में मेरे एक मित्र ने मुझ पर यह आरोप लगाया था कि मैं ने उसके रहस्य को खोल दिया है। उसके इश्क़ की बात मुश्क की तरह फैल गयी है

और लड़की ने समाज के डर के कारण इनकार कर दिया है। उसके विश्वास का मैं पात्र नहीं रहा। उस का इश्क़ भी मिरज़ा ग़ालिब के अन्दाज़ में मुझे दिमाग़ का खलल लगा। इस बण्डल में कुछ ख़त बड़े-बड़े आदमियों के भी थे। इन को सँभालने की वजह शायद यह हो सकती थी कि इन को दिखाने से ही आदमी बड़ा बन सकता है। यह क्या मालूम था कि बड़ा होना सितारों का खेल है। एक बड़े आदमी ने यहाँ तक लिख दिया था—"मुझे यह मालूम न था कि विपत्ति में तुम मेरी सम्पत्ति भी बन सकते हो।" इस में न तो उक्ति का चमत्कार था और न ही सूक्ति की रचना। इसे पढ़ कर सन्तोष की पूरी साँस भी नहीं ले पाया था कि अगले अनाम पत्र ने इसे बीच में ही रोक दिया। इस में मुझ पर चरित्रहीन होने का आरोप लगाया गया था।

●

इन मिले-जुले पत्रों को दोबारा पढ़ने से मुझे यह सन्देह होने लगा कि किसी के बारे में सत्य को पाया भी जा सकता है या नहीं। अपने बारे में धारणाएँ जब इतनी ग़लत हो सकती हैं तो औरों के बारे में इन का सही होना कितना कठिन है। अगर गिरिजाकुमार माथुर की तरह मैं कवि होता तो मैं भी ख़त पर इनसे लम्बी रचना कर सकता था। मैं भी इसे नये ज़माने का मेघदूत या दमयन्ती-मिलन को पास लाने का हंस अगर न बना सकता तो कौवा कहने का साहस अवश्य बटोर सकता था जो पुराने ज़माने में भी मुंडेर पर काँव-काँव कर के अतिथि के टपकने की सूचना देता था। मेरे लिए ये ख़त अगर नया आलोक लाने वाले या साबित ज़िन्दगी का आइना बनने का साधन नहीं रहे तो बोरियत को गहराने वाले अवश्य थे। इन में रोज़ की ज़िन्दगी थी जो इस की निरर्थकता को साबित करती थी। आज भी उसी तरह के ख़त आते रहते हैं। हर ख़त का जवाब देना लाज़मी है ताकि मुझे कहीं बड़ा होने का वहम न हो जाये। इन में कभी-कभी चेक भी होता है जिसे बाहर से ही भाँप लेता हूँ, लिफ़ाफ़े से ही मज़मून का पता चल जाता है।

आज के और पुराने पत्रों में थोड़ा अन्तर भी आ गया है। अब ख़त छोटे होते जा रहे हैं, इन में सब तरह के हाल-हवाल नहीं होते, अड़ोस-पड़ोस के क़िस्से नहीं होते, मौसम का हाल भी ग़ायब होता है, सुख-दुःख की बात भी विस्तार से नहीं होती, सुबह से शाम तक की ज़िन्दगी का विवरण भी नहीं होता, इधर-उधर के

मँगनी-विवाह की सूचना भी नहीं होती—यानी इनमें व्यक्तिगत और आत्मीय आवाज़ नहीं होती। अगर कहीं से लम्बा ख़त आ जाता है तो इस में राजनीतिक या साहित्यिक बहस होती है, किसी को गिराने-उठाने की बात होती है, तिकड़म की गन्ध और निन्दा का रस होता है। इसे पढ़ कर जी में आता है कि तू भी बदल फ़लक ज़माना बदल गया है, मशीन का युग आ गया है। अब पत्र के लिए पत्र नहीं लिखा जाता, इस कला का लोप हो गया है। मेरे नौकर को घर से जब ख़त आता है तो इसे बाँच कर पुराना युग बीता हुआ नहीं लगता। इस में कभी बैल के अचानक मर जाने की सूचना होती है, कभी गाँव के किसी व्यक्ति के चल बसने का समाचार और कभी सन्तान के पैदा होने का। लेकिन शहर में अगर पड़ोसी की मौत हो जाये तो इस का असर पत्र-लेखन पर नहीं पड़ता, इस का समाचार पत्र में देना आवश्यक नहीं लगता। इस के असर में आ कर कभी-कभी मैं सोचने लगता हूँ कि मेरे बाद मेरा लेटर-बाक्स कौन खोलेगा। अगर यह खुल भी गया तो हर ख़त का जवाब कौन देगा जिस की आदत मैं ने डाल रखी है। यह धारणा भी उसी तरह असंगत है जिस तरह कि महात्मा गांधी के निधन के बाद देश किस तरफ़ चलेगा। इस लिए मैं ने पुराने ख़तों को आग के हवाले कर दिया है।

एकाकी जीवन

एकाकी जीवन इतना अधूरा और खाली समझा और माना जाता है कि इस से ऊब कर ब्रह्म ने भी अपना जी बहलाने के लिए सृष्टि की रचना कर डाली थी और उस ने चाहा था—एकोऽहं बहु स्याम। इस से मानव-जीवन के एकाकीपन की स्थिति का अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस सृष्टि की रचना पर एक बार तो ब्रह्म को सन्तोष हुआ होगा जब उस ने यह अनुभव किया होगा कि सृष्टि मेरी है। इस से उस के अहं का विस्तार हुआ होगा। एक भरे-पूरे जीवन में एक मीठी रीझ-खीझ होती है, एक तंगी-तुरशी का अनुभव होता है जो उसे सरस बनाये रखता है। इसके विपरीत एकाकी जीवन एक सपाट मैदान की तरह है जिस पर चलने से थकावट अधिक होती है, इस में न उतरना और न ही चढ़ना होता है जिस से थकावट कम होती है। और जीवन चलने में है पहुँचने में नहीं, पहुँचना मृत्यु है। एक भरे-पूरे जीवन की बात करने में गौरव का अनुभव होता है जिसे बार-बार दुहराया जा सकता है, परन्तु एकाकी जीवन की कथा कही न जा सकती और अगर कही भी जाती है तो अपने से। एक पिता ही बड़े अभिमान से कह सकता है कि मेरा छोटा पुत्र इतना होनहार है कि उस के लिए ही बिरवा के चिकने पात वाला मुहावरा बनाया गया है, एक पति ही यह कहने का साहस कर सकता है कि मेरी पत्नी तो ऐसी देवी है जिस से अगले जन्म में भी विवाह करने का जी चाहता है और उस के लिए ही जन्म-जन्मान्तरों का सिद्धान्त गढ़ा गया है। यह एक पूरे जीवन की अधूरी झाँकी है जिसे अनेक बार दिखाया जा सकता है। एक अधूरे जीवन की पूरी झाँकी दिखाने में कितनी व्यथा छिपी हुई है इस की कल्पना ही की जा सकती है।

●

इस लिए मैं अपने एकाकी जीवन की बात करने से कतराता हूँ और कभी-कभी अगर वह मुँह से निकल भी जाती है तो मुझे दया का पात्र ही बनना पड़ता है जिस से मुझे चिढ़ है। मैं समाज की घृणा तो सहन कर सकता हूँ, परन्तु उस की दया वहन नहीं कर पाता। दया का दान पाने से मेरे अहं को चोट लगती है। यह

सच है कि मैं ने उदार हृदय पाया है, परन्तु मेरा अहं उस से अधिक विशाल है। अपने अहं को मारना पाप है और किसी दूसरे के अहं को पालना पुण्य है। इस अहं के बल पर तो जीवन चलता है। मैं यह जानता हूँ कि एकाकी जीवन असामाजिक है, असामान्य एवं असाधारण है, मानव-प्रकृति के विपरीत है। इसे मैं ने स्वयं भी नहीं अपनाया है, यह मुझ पर आरोपित किया गया है। यह किस ने आरोपित किया है—इस का अनुमान आप बेहतर लगा सकते हैं। मैं जो कहूँगा वह सच और नीरस होगा और आप का अटकल्ली सच सरस हो सकता है। अब जब एकाकी जीवन का बोझ कन्धों पर रखा ही गया है तो उसे उठाना ही पड़ता है। विवाहित जीवन बोझ इस लिए नहीं है कि उसे स्वयं कन्धों पर रखा जाता है। इस में किसी शिकवे-शिकायत की गुंजाइश नहीं होती। विवाहित जीवन मनोनीत होता है और एकाकी जीवन परनीत। मनोनीत जीवन की बात डंके की चोट से कही जा सकती है और परनीत जीवन का राज़ खुलने में नहीं आता। इस सम्बन्ध में जितने मुंह होते हैं उतनी ही बातें। मेरे लिए हर परिचित का चेहरा एक प्रश्नचिह्न बन कर आता है, हर अपरिचित की आँखों से उत्सुकता एवं जिज्ञासा टपकती है। परिचित हो या अपरिचित किसी को विश्वास नहीं होता कि जीवन एकाकी भी हो सकता है जिस की कथा कहने में संकोच ही नहीं लाचारी भी हो सकती है। कभी-कभी इस बात में थोड़ा-सा सन्तोष मिल जाता है कि भीतर से सब का जीवन वास्तव में एकाकी होता है। यह सब संग और साथ एक सीमा तक रहता है और उस के आगे व्यक्ति अकेला है। गुरुदेव का 'एकला चलो' का कथन मन को धीरज देता है। यदि वास्तव में अकेले ही चलना है तो समस्त पाथेय किस लिए संचित किया जाता है। यह पाथेय मन को बहलाने के लिए पुंसक है, परन्तु एकाकी जीवन की उदासी को मिटाने के लिए नपुंसक सिद्ध होता है। जीवन का एकाकीपन और उस की उदासी काटने को आती है। जब मैं देखता हूँ कि भरे-पूरे व्यक्ति अपनी रिक्तता को भरने के लिए मेरे यहाँ डेरा डाल देते हैं तब उन से पूछने को जी तो चाहता है कि आप परम हंसों की सभा में क्यों आ टपके हैं, लेकिन पूछने का साहस इसलिए बटोर नहीं पाता कि वे कह देंगे कि वे मेरी उदासी दूर करने आते हैं और मुझे शिष्टाचार के नाते चुप रहना पड़ेगा।

●

एकाकी जीवन अनुभव का विषय है, बहस का नहीं, करनी की बात है, कथनी की नहीं। एकाकी व्यक्ति कबीर के गूंगे के समान गुड़ की मिठास तो नहीं, करेले की कड़वाहट बताने में असमर्थ है। उसकी गति को घायल ही जान सकता है या उसे मीरा जानती थी। मीरा ने तो गिरिधर को अपने हृदय का हार मान कर चिर सुहागिन की स्थिति को पा लिया था, परन्तु एकाकी जीवन में कृष्ण को राधा नहीं मिल सकती, रत्नसेन को पद्मावती हासिल नहीं हो सकती, एडवर्ड अाठ को मिसेज सिम्सन नहीं मिल सकती। इस में न तो उर्मिला लक्ष्मण की स्मृति के बल पर जी सकती है और न ही यशोधरा तथागत का स्मरण कर जीवित रह सकती है। एकाकी जीवन में अद्वैत की स्थिति होती है, द्वैत की नहीं, एक की कथा होती है, दो की नहीं। और दो की कथा भी तो एक दूसरे के द्वारा अधूरे रूप में कही भी जा सकती है। एक की कथा केवल स्वयं को तो कही जा सकती, किसी दूसरे से नहीं। एक दृष्टि से एकाकी जीवन खाली है, परन्तु दूसरी दृष्टि से यह रहस्यमय भी हो सकता है। इस रहस्य को बनाये रखना ही उचित जान पड़ता है ताकि अभिन्न से अभिन्न व्यक्ति की उत्सुकता बनी रहे और जिज्ञासा गहरी होती रहे, चाहे इस में कुछ भी सार न हो। जब एक बार बदनाम हो चुके हैं तो उस से मुंह क्यों चुराया जाये। बद से बदनाम बुरा होता है, परन्तु निन्दा में जो रस मिलता है, उस का परिपाक किसी की प्रशंसा करने में नहीं हो पाता। निन्दा का भाव स्थायी होता है और इस रस की निष्पत्ति के लिए कभी-कभी संचारी भाव का आश्रय भी लिया जा सकता है। इस के अतिरिक्त लोगों की उत्सुकता और जिज्ञासा को बनाये रखने से जीवन का महत्त्व बना रहता है। इन के कम होते ही उदासी के बढ़ने की आशंका हो आती है और उदासी का भाव आज के जीवन के लिए सब से बड़ी समस्या है। इस लिए बद नहीं तो बदनाम होने में कुछ तो है। विवाहित जीवन बद है और एकाकी जीवन बदनाम। इतना कुछ कहने पर भी एकाकी जीवन की कथा अनकही रह गयी है और इस के कारण और भी हो सकते हैं। एक तो इसे कहने को मन नहीं मानता, दूसरे भाषा की शक्ति सीमित है, तीसरे इसे सुनने वाला कोई नहीं होता। अगर किसी ने इसे पढ़ा है तो उस ने भूल की है और अगर भूल नहीं की है तो भूल से सुना अवश्य है। इस

जीवन की अपनी व्यथा है जिसे पहचानने के लिए कल्पना की अपेक्षा है और जिसे गुनने के लिए सहन-शक्ति की आवश्यकता है। मुझे तो यह जान कर विस्मय होता है कि उस में दोनों गुण विद्यमान हैं। इस के लिए वह मेरी सहानुभूति का पात्र है।

खेद नहीं

अविवाहित रह जाने पर खेद व्यक्त करना उतना ही बेकार है जितना जीने पर। अब हीरा जनम तो मिल गया है; इसे हर रंग में सहर होने तक जिलाए रखना है। खेद से बनता कुछ नहीं, बिगड़ता अवश्य है। अगर मैं खेद करने पर उतरता हूं तो दया का पात्र बनता हूं। मुझे यह सुन कर खुशी नहीं होती कि मैं बेचारा अकेला रह गया हूं, मुझे खाने-पीने को कुछ नसीब होता है या नहीं। मेरे बारे में यह कहा जाता है कि जब मैं बीमार पड़ता हूं तब मेरी देखभाल कौन करता होगा। और जब मैं मरूंगा तब मेरी चिता को आग कौन लगाएगा। मुझे अपनी चिता से इतनी चिन्ता नहीं होती जितनी दया का दान करने वालों को हो सकती है। मैं अविवाहित रह जाने पर जब खेद नहीं व्यक्त करता तब मेरे परिचितों को कुछ विस्मय होता है और अधिक जलन। विस्मय इसलिए कि इस का रहस्य क्या है और जलन इसलिए कि मैं जकड़ा क्यों नहीं गया हूं। मुझे खुद पता नहीं है कि मैं अविवाहित क्यों रह गया हूं। मैं यह तो जानता हूं कि शादी करना भी एक आदत है। मैं इस आदत का शिकार क्यों नहीं हुआ — यह बात मुझे भी हैरान करती है। मैं कोई असाधारण व्यक्ति भी नहीं हूं, जीनियस भी नहीं हूं, जो जान-बूझ कर विवाह नहीं करते। अविवाहित रह जाने का एक कारण समझ में थोड़ा आता है कि मेरे समाज में सन्तान का विवाह मां-बाप करते हैं। मैं ने शायद शादी खुद करनी चाही हो जो नहीं हो सकी। या मेरी छोटी आयु में मेरी मां का चल बसना भी इस का कारण हो सकता है। इन कारणों से इस रहस्य की गांठ कैसे खुल सकती है? इस स्थिति पर मैंने कभी खेद नहीं किया और यह मेरे आसपास को अखरता है; लेकिन मेरा मौन मुझे दया का पात्र बनने से बचा लेता है। इस मौन ने मेरे अहं को सुरक्षित रखा है और मुझे ब्रह्म की तरह एक से अनेक होने नहीं दिया। अब ब्रह्म को इतनी आबादी देखकर पछतावा हो रहा होगा, लेकिन मैं इस पछतावे से बच निकला हूं।

•

मेरे परिचित-अपरिचित मेरी अविवाहित स्थिति पर इस लिए हैरान होते हैं

कि वे मुझ में पति बनने के सब गुण और दोष पाते हैं। वे मेरे रहन-सहन और खान-पान को जब देखते हैं तो मेरे अकेलेपन पर खीझने भी लगते हैं। और खीझ में आ कर वे मेरे अपने मकान को घर कहने में परहेज़ करते हैं। एक बार एक अपरिचित ने मेरे घर का पता पूछा था, लेकिन बाद में उसे इस का पछतावा हुआ था। मुझे उस के पछतावे पर भी खेद नहीं है। अगर विवाहित होता तो शायद अपना मकान न होता जिस में मुझे घर का सुख मिलता है। एक नयी-नवेली की तरह मैं इस की सँभाल करता हूँ। मुझे अपने पेड़-पौधों से उतना ही मोह है जितना एक पिता को अपनी सन्तान से हो सकता है। जब बाहर से लौटता हूँ सब को एक-एक कर के आवाज़ देता हूँ। इन की आवश्यकताओं को बिन कहे पूरी करता हूँ। इस तरह इन के पालन-पोषण में जीवन के रीतेपन को भरता और खाली करता रहता हूँ। परन्तु 'हर व्यस्तता मुझे अकेला छोड़ जाती है।' इस का भी मुझे खेद नहीं है।

●

अविवाहित रह जाने पर इसलिए भी खेद नहीं है कि मुझे नारी से स्नेह है घृणा नहीं। हर नये युगल को जब भुलावे में पड़ता हुआ देखता हूँ तब जी को चैन मिलता है। भुलावे में अपने को कौन नहीं डालना चाहता! आत्मज्ञान की बात तो सभी करते आये हैं, लेकिन आत्म-विस्मरण की बात विरला ही कर सकता है। एक अविवाहित की स्थिति आत्मज्ञान की है और एक नव-विवाहित की आत्म-विस्मरण की। यह और बात है कि विवाह के पांच साल बाद अपने को सुखी बताना बड़े साहस का काम है। जीवन के कुछ क्षण ही महत्त्व के होते हैं; अन्य क्षण तो इन विरल क्षणों को सारवान बनाने के लिए होते हैं। अपनी इस स्थिति पर इसलिए भी खेद नहीं है कि माँ बनने पर पत्नी अपनी सन्तान के उतनी निकट हो जाती है जितनी अपने पति से दूर। पुरुष उस के लिए मरकज़ से निकल कर घेरे पर पहुँच जाता है, कमरे से निकल कर बरामदे में पड़ जाता है और पितामह बनने पर उसका बिस्तर घर के पेड़ के नीचे लग जाता है। मुझे सन्तोष है कि मैं अब भी उसी बीच के कमरे में सोता हूँ जिस में पहले से सोता आया हूँ। इस स्थिति पर किस तरह खेद हो सकता है!

●

मुझे खेद इसलिए भी नहीं होता कि मेरा जीवन सदा लड़के-लड़कियों में

घिरा रहा है और इन की ग्रात्मीयता मुझे सन्तोष देती रही है। हर साल कुछ चेहरे परिचित हो कर अपरिचित होते रहते हैं। सन्तान शायद मां-बाप से मन की बात करने में कतरा जाये, मित्र शायद अपने मित्रों के सामने भीतर की गाँठ न खोल सकें; लेकिन मेरा अनुभव इसके विपरीत रहा है। एक हित-चिन्तक और सलाहकार के नाते मुझ से सब खुल कर बात इस लिए कर लेते हैं कि मैं एक का राज़ दूसरे पर खुलने नहीं देता। इस विश्वास से मुझे बल मिलता रहा है और अपनी अविवाहित स्थिति पर खेद करने के लिए अवसर ही नहीं मिला है। यह एक वहम भी हो सकता है, पर वहमों के सहारे कौन नहीं जीता आया है! यह मेरे जीवन की असफलता भी हो सकती है, लेकिन असफलता के आइने में कौन अपना मुंह नहीं ताकता है। गालिब ने ठीक ही कहा था --'मैं हूं अपनी शिकस्त की आवाज़।' इस शायर की आवाज़ को जब सुनता हूं तो जी को चैन मिलता है। और गालिब शादीशुदा थे। विवाहित जीवन में दुःख और सन्ताप ही आनंद को नया-नवेला बनाते है, वसन्त और पतझर एक-दूसरे के गले में बांहें डाले रहते हैं। और अविवाहित जीवन में अकेलेपन की अनुभूति उसी वस्तुस्थिति का सामना कराती है। इस स्थिति में जूझना ही तो जीना कहा गया है। इसमें दुःख तो घना हो जाता है, लेकिन तबीयत सान पर चढ़ जाती है। इसलिए खेद करना शोभा नहीं देता।

मुझे अपनी स्थिति पर खेद तब होता है जब मुझे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। एक व्यक्ति के नाते सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर जब मुझे सम्बोधित किया जाता है तब इतना खेद नहीं होता जितनी खीज होती है। इस दिशा में अंकल एक नया नाता है जो आधुनिक जीवन में सब से अधिक सारहीन माना जाता है। आज के सारहीन जीवन में सम्बन्ध भी उसी सांचे में ढल रहे हैं। अब भी अगर अविवाहित रहने पर खेद करना बाकी है तो इस का मुझे खेद नहीं है। छोटी-छोटी भूलों पर तो अफ़सोस किया जा सकता है, लेकिन किसी बड़ी भूल पर सब के सामने अफ़सोस करना अपने अहं को चोट पहुँचाना है। यह साहस महात्मा गान्धी में था जब चौराचौरी की घटना के बाद उन्हों ने अपनी भूल की तुलना हिमालय से की थी और असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया था। मैं तो एक साधारण व्यक्ति के नाते भूलों का पुंज हूं जिन्हें स्वीकारने का मुझ में साहस नहीं है। अपने छोटे-से अहं के कमज़ोर बल पर अब तक जीता आया हूं।

अब क़लमा पढ़ने से मुसलमान किस तरह से बन सकता हूं, शादी कर इन्सान किस तरह हो सकता हूं, काफ़िर होने की स्थिति पर खेद किस तरह प्रकट कर सकता हूं। अब तो अविवाहित रहने की आदत पड़ चुकी है और आदत बुरी बला होती है। इस से छुटकारा पाना मुश्किल है इस लिए अविवाहित रहने का मुझे बिलकुल खेद नहीं है और अगर है तो इसे बताना बेकार है।

भविष्यवाणी

आने वाले दिनों के बारे में कौन नहीं जानना चाहता ? इस की शायद यह वजह है कि बीते जीवन को फिर से जीने के लिए सब का मन करता है, लेकिन यह हो नहीं सकता। एक बार जो बीत जाता है वह सदा के लिए बीत जाता है। उसे लौटाया नहीं जा सकता। आज को पकड़ना या इस का सामना करना भी बड़ा कठिन है। इस लिए मन कभी बीते कल में रमने लगता है तो कभी आने वाले कल के सपने लेने लगता है। अतीत की भूलों को सुधारा नहीं जा सकता और अनागत के सपनों का साकार करना कठिन है। आधुनिकता का तकाजा आज को स्वीकारने में है, लेकिन मन पुराना पापी है जो कभी पीछे दौड़ता है तो कभी आगे भागता है। भगवान ने भी इसे चंचल कहा है। यह गीता के पाठ से भी वश में नहीं आता। इसलिए आने वाले दिनों के बारे में कुछ जानना चाहता हूं ताकि बीती भूलों से बच सकूं। झूठी भविष्यवाणी भी मन को बहलाती है। इस लिए कभी फलित ज्योतिष की सहायता लेता हूं, कभी हस्तरेखाओं का सहारा। फुटपाथ पर बैठे उस व्यक्ति से भी बात कर लेता हूं जो दो चिड़ियों से अनागत की जानकारी देता है। चिड़िया भी उसी सहजता से अपनी चोंचें जन्मकुण्डली के घरों में रख देती है जिस सहजता से या दिव्य-दृष्टि से पुराने ज्योतिषी सितारों के खेल को भांप लेते थे। इस तरह अनागत को जानने की कामना मुझे इतना घेर लेती है कि हर साधन को अपनाने में संकोच नहीं होता।

•

जहां तक फलित ज्योतिष का सम्बन्ध है इस का विस्तार पांच लाख श्लोकों में बताया जाता है और यह चार महाभारतों के बराबर बैठता है। इतने बड़े सागर को गागर में बन्द करना असम्भव है। मेरी जन्मकुण्डली जब पाकिस्तान में रह गयी तो भारत में स्मृति के आधार पर इसे नये सिरे से तैयार करवा लिया। अब घटनाएं यदि इस के अनुरूप नहीं घटतीं तो दोष भविष्यवाणी का नहीं, मेरी जन्मकुण्डली का ही हो सकता है। लगन में यदि एक अंश का भी अन्तर पड़ जाये तो बात बिगड़ जाती है। मेरे पत्रे में दो विवाह लिखे हुए हैं और हुआ एक भी नहीं।

सब से पूछने पर एक ही जवाब मिलता है कि अब तक अविवाहित रहने का मूल कारण शनिश्चर का एक घर में जम कर बैठ जाना है। इस की चाल इतनी धीमी होती है कि मेरे विवाह की सम्भावना अगले जन्म तक स्थगित हो सकती है। इस तरह सब का दृढ़ विश्वास भविष्यवाणी में मेरी आस्था को गहराता है। अगर यह सवाल करता हूँ कि एक समय दो विवाह आज के भारतीय क़ानून के खिलाफ़ हैं तो जवाब यह दिया जाता है कि एक विवाह या तो गुप्त हो सकता है या अगला जन्म उस देश में हो सकता है जहाँ इस की मनाही नहीं है। इस के साथ यह भी जोड़ दिया जाता है कि फलित ज्योतिष देश-काल के अनुसार बदलता रहता है। **जातकाभरण** नाम के ग्रन्थ में बार-बार दो विवाहों का उल्लेख मिलता है। इस का कारण शायद यह है कि मध्ययुग में बहु पत्नी का आम रिवाज था। आज यदि यह नहीं रहा तो **जातकाभरण** के श्लोकों की नयी व्याख्या हो सकती है। इस तरह फलित ज्योतिष का लचीलापन मेरी आस्था को अधिक गहरा देता है। मैं निराला की तरह विद्रोही भी नहीं हूँ। उन्होंने अपनी जन्मकुण्डली फाड़ कर सरोज को खेलने के लिए दे दी थी। इस में दो विवाह लिखे हुए थे; लेकिन निराला दूसरा करना नहीं चाहते थे। वह भविष्यवाणी को झूठा सिद्ध करना चाहते थे। मैंने तो दूसरी जन्मकुण्डली तैयार करवा ली है। वह चाहे नक़ली ही हो। भारती ने भी अपने दृश्य-काव्य **अन्धायुग** में उस बूढ़े याचक का वध करवा दिया है जिस ने यह कहा था कि कौरवों की विजय होगी। बूढ़ा याचक वंचक सिद्ध हुआ और भविष्य झूठा पड़ गया। कवि और ज्योतिषी के पास दिव्य-दृष्टि होती है जो विगत और अनागत दोनों को देख सकती है इस लिए कविता और फलित ज्योतिष का आधार दिव्य-दृष्टि है। आज का विज्ञान यदि इसे स्वीकार नहीं करता तो यह इस की सीमा है।

●

इस तरह भविष्यवाणी के अनेक चमत्कार सुनने को अधिक मिले हैं, देखने को कम। यह कहना कठिन है कि आँख का सत्य बड़ा है या कान का। मेरे सुनने में आया है कि यदि किसी की सही जन्मकुण्डली मिल जाये तो इस के आधार पर पूरा अतीत उजागर हो जाता है, केवल उस का ही नहीं उस के रिश्तेदारों, मित्रों आदि का भी पुराना जीवन खुलने लगता है। यह जानकारी एक जीवन तक सीमित नहीं होती, जन्म-जन्मान्तरों तक चलती है। इस लिए इस सिद्धान्त में

विश्वास रखना आवश्यक हो जाता है; आत्मा की अमरता में भी आस्था रखनी पड़ती है। यदि आधुनिकता का बोध इसे स्वीकार नहीं करता तो आने वाला बोध इसे स्वीकृति देगा। इस तरह मध्यकालीनता और आधुनिकता में इस टकराहट का परिणाम क्या निकलेगा—इस के बारे में निश्चित वक्तव्य देना मेरे लिए कठिन है। इतना कहने का साहस कर सकता हूँ कि विनोद के लिए फलित ज्योतिष बड़े काम का है। आज का मनोविज्ञान या कथा-साहित्य भी इतने चरित्रों का विश्लेषण नहीं कर पाया है जितना जातकाभरण में उपलब्ध है। हर व्यक्ति के चरित्र की मोटी-मोटी रेखाओं का संकेत दिया गया है। इतने व्यक्तियों के चरित्र के बारे में इतनी रेखाओं का संकेत देना मेरी सीमित बुद्धि को चकरा देता है। किसी व्यक्ति के जन्म-काल में जब शनि को मंगल देखता है तो वह एक तरह का बन जाता है, जब उसे बुध देखता है तो वह दूसरी तरह का हो जाता है और जब उसे बृहस्पति देखता है तो वह तीसरे साँचे में ढल जाता है। कभी पाखण्ड करने में वह चतुर है, कभी नारी को मुग्ध करने में, कभी धन पाने में, कभी इसे खोने में। इस तरह मानव का व्यक्तित्व सितारों के मेल से बनता है। यह एक राशि की बात है और राशियाँ जब बारह हों तो विविधता कितनी हो सकती है इसका अनुमान लगाना कठिन है। इस विविधता को पकड़ने की पूरी कोशिश की गयी है और यह मेरी छोटी अक्ल से परे है। एक-एक श्लोक की रचना में दिव्य-दृष्टि से काम लिया गया है या सञ्चित अनुभव को आधार बनाया गया है। जब तक विज्ञान इस दिव्य-दृष्टि से सम्पन्न नहीं होता तब तक इस के बारे में निश्चित मत देना खतरे से खाली नहीं है। और खतरा मोल लेना निराला जैसे कवियों को ही शोभा दे सकता है।

●

यह मेरे देखने में आया है कि हर बड़ा आदमी या बड़ा बनने की आशा रखने वाला फलित ज्योतिष में गहरा विश्वास रखता है। राजनीति से सम्बद्ध एक घुमक्कड़ व्यक्ति को जानता हूँ जो हर नयी जगह सब से पहले उस क़स्बे या शहर के ज्योतिषी की तलाश करते हैं और उस के बाद अपना बिस्तर खुलवाते हैं। अभी तक मुझे पता नहीं चला कि यह उन के लिए विनोद का साधन है या उन्नति का। अपनी जन्मकुण्डली वह सूटकेस में लिये फिरते हैं और कभी-कभार जब इसे साथ लाना भूल जाते हैं तो जेब में इस की नक़ल निकाल देते हैं। इस

तरह आने वाले दिनों की जानकारी पाने में वह इतना व्यस्त हो जाते हैं कि चाय का प्याला पड़ा-पड़ा ठण्डा हो जाता है। अभी तक राजनीति में यह इन की उन्नति का साधन नहीं बन सकी है। इन की पत्री में मन्त्री बनना लिखा हुआ है। इन का कहना है हर मन्त्री अपने पद को क़ायम रखने के लिए या भावी मन्त्री इसे पाने के लिए फलित की सहायता लेता है। मध्यकाल में हर दरबार में राज-ज्योतिषी होता था। अब भी हर गाँव का अपना-अपना 'जोतखी' होता है जो उस के जीवन को संचालित करता है। मौसम के बारे में यह देखा गया है कि फलित के आधार पर भविष्यवाणी मौसम के सरकारी हाल से अधिक सही साबित होती रही है। मैं ने यह भी सुन रखा है कि कीड़ियों को बरसात के आने की सूचना सब से पहले मिल जाती है। अब असली भृगुसंहिता का तो लोप हो चुका है। उस के बचे-खुचे पन्नों के आधार पर काम चलाया जा रहा है। आज के ऋषियों के पास वह दिव्य-दृष्टि भी नहीं है जिस की सहायता से नयी भृगुसंहिता की रचना की जा सके। इसलिए आँख के सत्य की जगह कान के सत्य का सहारा लेना पड़ रहा है। आशा की जाती है कि जिस दिन फलित का अनुसन्धान विज्ञान के पास चला गया उस दिन इस के चमकने की सम्भावना है। अभी तक भविष्यवाणी का भविष्य रहस्य के परदे में छिपा हुआ है। उस दिन का इन्तज़ार लगा हुआ है कि कब यह परदा उठता है और पता चलता है कि जन्मकुण्डली के अनुसार मेरे दो विवाह इस जन्म में होते हैं या अगले से अगले में।···

खरी-खरी सुनाने पर

आज खरी सुनना अगर इतना कठिन हो गया है तो फिर खरी-खरी सुनाना कितना कठिन हो सकता है — इस का अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस चौदह कैरट के युग में सब चीज़ों में मिलावट ही मिलावट है। वह चाहे घी हो या तेल, कपड़ा हो या ज़ेवर, आटा हो या चावल, मिरच हो या मसाला। यहां तक कि जानवर और इनसान भी असली या खरा नहीं रहा। कौन नहीं चाहता कि बात सीधे और साफ़ तौर पर कही जाये और छाती का बोझ उतारा जाये? सुनाना तो सब चाहते हैं, लेकिन सुनना विरला ही जानता है। इस लिए खरी-खरी सुनाने के लिए मुझे कड़ी से कड़ी सुनने की आदत डालनी पड़ी है। इस के बिना सुनाने का अधिकार किस तरह मिल सकता है, सहज होने का अवसर किस तरह हाथ आ सकता है? अगर मुझ से उधार मांगा जाता है तो यह कहना अधिक सही है कि मैं इसे देना नहीं चाहता। अगर मैं इधर-उधर के बहाने बनाता हूं तो बात इतनी उलझ जाती है कि इस से निकलना मुश्किल हो जाता है। अगर मैं किसी का काम नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता तो साफ़-साफ़ क्यों न कह दिया जाये! लाग-लपेट से झूठी आशा बँध जाती है। असमंजस में पड़े रहने से या किसी को टाल रखने से मन को कष्ट पहुँचता है। इस का बोझ धीरे-धीरे इतना भारी हो जाता है कि इसे उठाना मुसीबत बन जाती है। इस तरह खरी-खरी सुनाना मन की विवशता ही नहीं, तन की भी विवशता है।

●

मेरे मित्र हैं जो इसे बुरा मानते हैं। इन का कहना है कि इस से अहंकार की गन्ध आती है, अभिमान छलकता है, कठोरता का भान होता है। इन के अनुसार मीठा बोलना सच बोलने से बेहतर है। और भी हैं जो सच और झूठ में तमीज़ करना भी ठीक नहीं समझते। सच क्या है? झूठ क्या है? इस तरह के फ़लसफ़े की दलीलें दे कर वे मुझे चकरा देते हैं। मैं भी इन से सहमत इस लिए हो जाता हूं कि सत्य चरम नहीं है, शाश्वत नहीं है, युग-युग में बदलता रहा है और आज भी बदल रहा है। मैं यह भी जानता हूं कि कौन मतलब से खाली है, कौन अपनी

बुद्धि को कम समझता है, कौन अपनी उन्नति नहीं चाहता, किस में अहंकार नहीं है ? सवाल न होने का नहीं, मात्रा का हो सकता है। इस लिए खरी-खरी सुना कर किसी के कोमल मन को ठेस लगाना भला नहीं लगता; लेकिन बाद में निराशा की चोट अधिक गहरी साबित होती है। शिशु को तो भुठलाना पड़ता है। यदि बड़े हो कर भी शिशु बने रहना है तो बात दूसरी है। मैं भी शिशुता का शिकार रहा हूँ। अगर मुझे किसी ने खरी सुना दी तो मेरी नींद हराम हो जाती थी। अगर किसी ने मेरा काम नहीं किया तो उसे कोसना आवश्यक हो जाता था। अगर किसी ने मुझे उधार देने में साफ़ इनकार कर दिया तो उसे गाली देने की नौबत आ जाती थी। यह मेरी शिशुता का परिणाम था। आज मैं अपनी कमज़ोरियों से परिचित हो गया हूँ, दूसरों की मजबूरियों का मुझे एहसास हो गया है। यह आत्मज्ञान भी नहीं है जो मुक्ति पाने के लिए होता है। मुक्ति में मेरा विश्वास ही नहीं है। मैं भक्त भी नहीं हूँ जो स्वयं को अधम और नीच तक कहने का साहस रखता है। अपनी कमज़ोरियों को मानवीय कह कर टाल देता हूँ और खरी-खरी सुनने और सुनाने के लिए तैयार रहता हूँ।

●

यह सब कुछ होते हुए भी ऐन वक़्त पर खरी-खरी सुना नहीं पाता। एक की कातर दृष्टि देख कर चुप हो जाता हूँ, दूसरे की विवशता को जान कर मौन धारण कर लेता हूँ, तीसरे के हठ से घबरा कर खरी-खरी सुनाने से रह जाता हूँ। बात धरी की धरी रह जाती है और परिस्थिति उलझ जाती है। हाँ की भाषा तो सब को पसन्द है, लेकिन ना की बात सब को बुरी लगती है। इस तरह हाँ-ना करने के अनेक अवसरों का सामना करना पड़ता है, लेकिन होता कुछ भी नहीं है। 'हाँ कर जा या ना कर जा' की बात फ़िल्मी गीतों में सम्भव हो सकती है। इस तरह चुप साधने से परेशानी इतनी बढ़ जाती है कि खरी-खरी सुनाने को जी करने लगता है। मेरे मौन को बहुत कम समझते हैं। मैं भी इसे नहीं समझता। कुछ लोगों ने खरी-खरी सुनाने के बजाय एक ऐसी लोचदार-पेचदार भाषा को साध रखा है, एक ऐसे गोल-मोल मुहावरे को गढ़ रखा है कि सब इन के यहाँ से खुश हो कर लौटते हैं। इस भाषा को 'लस्टम-पस्टम' का नाम दिया जा सकता है। इस का अपना व्याकरण है। अब इस नयी भाषा को सीखना मेरे लिए कठिन है। भाषा-विज्ञान में मेरी रुचि बहुत कम है। स्वभाव पक गया है, इसे बदलना

मुश्किल जान पड़ता है। अधिक देर चुप रहने से मन पर बोझ पड़ता है। इस लिए खरी-खरी सुनाने को जी करता है। इस से जीवन सहज लगने लगता है। एक बाबा को मैं ने जाना है जो सारा जीवन एक शब्द भी नहीं बोले, लिख कर ही बात करते रहे हैं। इतनी कड़ी साधना मेरे बस का रोग नहीं है। मैं बाबा भी बनना नहीं चाहता। कवि भी नहीं हूँ जो लक्षणा-व्यंजना में बात कर सकता है। अपने गद्यमय जीवन में अभिधा को ही सीख पाया हूँ।

●

इस तरह खरी-खरी बात करने से काम कम हुआ है और हानि अधिक पहुँची है। मैं किसी गुट का सदस्य नहीं बन सका हूँ। आज नेतागीरी या दादागीरी करने के लिए अपना गुट बनाना आवश्यक हो गया है। मैंने जब कभी हाँ में हाँ मिलाने वालों को संगठित करने की कोशिश की है तब असफलता का ही मुंह देखना पड़ा है। कुछ दिनों के बाद वे मुझ से असहमत होने लगते हैं जिस से मुझे खुशी भी होती है। यह अधिकार जैसे मेरा है वैसे ही इनका भी है। इस तरह मैं बार-बार अकेला रह जाता हूँ। यदि यह मेरी नियति है तो नेतागीरी करने से छुटकारा पाने के सिवाय और चारा ही क्या है। इस हानि को सहन करने की आदत डालनी पड़ी है। इस का थोड़ा लाभ भी हुआ है। जब मुझे यह सन्देह होने लगता है कि मेरी बात स्वीकृत होने लगी है तब उस पर प्रश्न-चिह्न लगाना आवश्यक हो जाता है। मैं स्वयं को खरी-खरी सुनाने लगता हूँ, उसे फिर से तोलने लगता हूँ। इस का परिणाम यह निकला है कि मुझे अपनी पुरानी धारणाओं का खण्डन करना पड़ा है। इस का मुझे खेद भी नहीं है। आया राम-गया राम के युग में नेता को अगर अपना दल बदलने का अधिकार है तो मुझे अपना विचार बदलने का भी अधिकार नहीं है? हर परिचित व्यक्ति और अपरिचित लेखक के बारे में फिर से सोचने पर उस का नया पहलू सामने आया है। यह नवलता ही जीवन के मनहूस क्षणों को कम करती है। इस तरह सपाट बात करने की सब से बड़ी हानि जो मुझे उठानी पड़ी है वह यह है कि लेखक अपनी कृतियों के बारे में मेरी राय जानना चाहते हैं। अगर सही राय देता हूँ तो वह प्राय: अखरने वाली होती है और अगर नहीं देता तो अहंकार का आरोप मुझ पर लगाया जाता है। इस दुविधा की स्थिति में परेशान हो जाता हूँ। इस से विरोधियों का दल बल पकड़ता जा रहा है। मेरी नन्हीं-सी जान इन से डरने लगी है।

इस तरह बहुमत से घबराना स्वाभाविक भी है, खरी-खरी सुनाने से कतराना सहज भी है। जब परिवेश ही मिलावट से घिरा हुआ हो तो साफ़-साफ़ कहना ख़तरे से खाली नहीं है और हर बार ख़तरा मोल लेना भी शोभा नहीं देता। मैं ने सुधार का कौन-सा ठेका लिया है! मुझे तो केवल हर छोटे-बड़े अन्त के लिए अपने को तैयार करना है; लेकिन कभी-कभी पुरानी आदत से मजबूर हो कर खरी-खरी सुनाने को जी चाहता है और यह इसी का परिणाम है।

सहानुभूति दिखाने पर

सहानुभूति पाना तो सब जानते हैं लेकिन देना बहुत कम। मैं इसे देने से इस लिए कतराता नहीं हूँ कि इसे दिखा कर मन को सन्तोष और अहं को विस्तार मिलता है। कभी-कभी इसे दिखा कर मुझे पछतावा हुआ है, हानि तक उठानी पड़ी है। इस स्थिति में मैं ने यह भी तय किया है कि अब सहानुभूति दिखाने की भूल नहीं करूँगा, लेकिन दृढ़ निश्चय का बाँध हर बार टूटता रहा है। जब कभी किसी को धन-संकट में पाता हूँ उस की सहायता के लिए तैयार हो जाता हूँ। अकेला होने की वजह से मेरे मित्रों का यह वहम अब तक बना हुआ है कि मैंने लक्ष्मी से गहरा नाता जोड़ रखा है। एक बार एक मित्र ने रात के समय दरवाज़े पर दस्तक दी। उस के भीतर आने पर मैं ने उस के चेहरे पर अभाव की रेखाओं को एकदम पहचान लिया। मुझे यह कड़ा अनुभव हो चुका था कि आज के युग में किसी को दिया उधार गंगा में अस्थियों के समान लौट कर नहीं आता। आजकल प्रायः सब चार्वाक मत के अनुयायी बन चुके हैं जो ऋण ले कर भी घी पीते हैं। मेरे मित्र ने केवल चार सौ माँगने का साहस किया और चार महीनों में लौटाने का भी अनकहे वचन दिया। आज चार साल बीत चुके हैं और वह शहर छोड़ कर चला गया है। मुझे डिकिंस के उस पात्र की याद आ रही है जो हर गली से उधार ले कर अन्त में शहर छोड़ने पर मजबूर हो गया था। इस तरह सहानुभूति दिखा कर एक भारी रक़म से हाथ धोना पड़ा है और अपने मित्रों से भी वंचित होना पड़ा है; माया और राम दोनों ही खो दिये हैं।

●

एक और जाति से सहानुभूति दिखाने का पाला पड़ा है। इस का नाम अगर किसी सरकारी सूची में न मिले तो साहित्य की सूची में अवश्य मिल जायगा। इसे बोर नाम की जाति या बोर करने वालों की जाति कहा जाता है। इस का विकास आज-कल बड़ी तेज़ी से हो रहा है; खास कर शहरों में। इस के लोग मौत या गाहक की तरह किसी समय आ टपकते हैं। आप सो रहे हों या खाना खा रहे हों, नहा रहे हों या कपड़े बदल रहे हों, पढ़ रहे या लिख रहे हों, किसी से बात कर

रहे हों या अपनी ही सोच में डूबे हुए हों, किसी को याद कर रहे हों या भुला रहे हों, बोर आप से सहानुभूति पाने के लिए बड़े सहज भाव से पहुँच जाता है। अब दोबारा चाय बनवाने के सिवाय और चारा ही क्या रह जाता है। उस की खातिर चाय का नया सेट निकालना आवश्यक है, किसी से चीनी माँग कर लाना जरूरी है। वह बात करना जानता है, सुनना नहीं, वह अपनी ही सोचता है, दूसरे की नहीं। अनेक बार मन में आया है कि अब तक जीवन बोरों से सहानुभूति दिखा कर नष्ट किया है, आगे नहीं करना है; लेकिन संयम का बाँध टूट जाता है। कभी-कभी यह सोचने लगता हूँ कि मरने के लिए ही हम सब जीते हैं। इस लिए पछतावा किस लिए, कुढ़ना किस लिए। सहानुभूति पा कर बोर अपनी बातों में बुरी तरह उलझा लेता है। वे कुछ सुनी और अधिक अनसुनी रह जाती हैं। उस की हाँ में हाँ मिलाना इस लिए आवश्यक हो जाता है कि बिना इस के सहानुभूति को दरसाया नहीं जा सकता।

●

अगर बोर जाति को सहानुभूति से वंचित नहीं किया जा सकता तो नारी जाति को भला किस तरह किया जा सकता है, जो स्वभाव से कोमल और कातर है। इस का यह जन्मसिद्ध अधिकार रहा है। यह केवल सहानुभूति पाना नहीं चाहती, सहअनुभूति पाना माँगती है। एक बार जब इस को सहानुभूति पाने की आदत पड़ जाती है तब इस से छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है। मेरे लिए सहानुभूति देना और उस के लिए पाना एक लत बन जाती है। 'अबलों नसानी अब न नसैहों' की बात फीकी पड़ जाती है। इस बन्धन से मुक्ति पाने का जितना यत्न करता हूँ उतना ही इस में जकड़ा जाता हूँ। इस से जो हानि उठानी पड़ती है उसे लाभ समझना पड़ता है। जेब तो खाली होती ही है, जीवन भी खाली होने लगता है। सब साधना धरी की धरी रह जाती है। नारी के काम इतने बढ़ जाते हैं कि अपने छूट जाते हैं। अगर उसे गहनों का शौक है तो इन्हें गढ़वाने से ही सहानुभूति व्यक्त हो सकती है, अगर उसे कपड़ों का शौक है तो इन्हें लाने में व्यस्त होना पड़ता है। अगर उसे सैर करने का शौक है तो अकेली वह किस तरह जा सकती है। हाँ, उस के लिए पुस्तकें लानी नहीं पड़तीं, लेकिन पुस्तकों के लिए पैसा ही कहाँ बच पाता है। और मेरे लिए नारी केवल नारी है, पत्नी नहीं। इस लिए भी सहानुभूति के कपाट एकदम खुल जाते हैं।

●

एक और जाति को सहानुभूति दिखा कर मुझे भारी नुक़सान उठाना पड़ा है। यह जाति परीक्षा में बैठने वाले स्टूडेण्ट्स की है जो अपने नम्बर बढ़वाने के लिए पहुँच जाती है। इस बारे में एक पुरानी घटना याद आ रही है। एक बार एक लड़की ने मुझे यहां तक धमकी दे दी थी कि अगर मैं उसे पास नहीं करता तो वह नदी में छलांग लगा देगी। मैं इतना डर गया कि मैं ने सहानुभूति दिखाने का उसे वचन भी दे डाला। वह बिना सहायता के पास थी, लेकिन एक महीने के बाद मेरे बारे में जांच-पड़ताल शुरू हो गयी। उस लड़की ने अपनी सहेलियों से शेखी में आकर यह कह दिया कि वह मेरी सहानुभूति से पास हुई है। उसी की एक सहेली ने गुमनाम मेरी शिकायत लिख कर भेज दी थी। तब से कानों को हाथ लगाया और तय किया कि इन से सहानुभूति करना कितना ख़तरनाक हो सकता है। अब भी कभी-कभार स्टूडेण्ट्स आ टपकते हैं और यही दलील देते हैं कि सब परीक्षक सहानुभूति दिखाते हैं, मैं क्यों कठोर हो गया हूँ। मेरा एक ही जवाब होता है कि इस तरह की सहानुभूति दिखाने से मेरी नौकरी के छूटने का भय है और मैं एक डरपोक आदमी हूं। वह मेरी बात मानते तो नहीं, लेकिन निराश हो कर चले अवश्य जाते हैं।

●

एक आलोचक के नाते साहित्यकारों की जाति से भी सहानुभूति करना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। इन से सह-अनुभूति तो हो सकती है, लेकिन सहानुभूति नहीं। इस का कारण यह है कि सहानुभूति का आशय इन की कृतियों को उठाना समझा जाता है। अपनी रचनाओं में इन का मोह एक मां का होना है जो अपनी कुरूप सन्तान को सरूप बनाती है, कानी को भी रानी कहती है। अगर पड़ोसी उस की सन्तान के किसी दोष का संकेत देता है तो वह उस से झगड़ा मोल लेने पर उतर आती है। साहित्यकारों का यह विश्वास बना हुआ है कि उन के घातक आलोचक ही होते हैं, उन की कृतियां नहीं। आलोचक इन की कृतियों के दोष निकालता है तो दोष उस का है। इन की कृतियों की भूमिका लिखने के मुझे बहुत कम अवसर मिले हैं। यह इस लिए कि मेरा नाम अभी बिकता नहीं है, लेकिन जब कभी भी इसे लिखना पड़ा है तो बात गोलमाल इस लिए कर जाता हूँ ताकि सहानुभूति भी दिखा सकूं और निष्पक्ष भी रह सकूं। इस की एक बार हानि भी उठानी पड़ी

है। एक लेखक अपनी बोझिल पुस्तक पर मेरी राय लेने के लिए सरदियों के मौसम में रात के नौ बजे मेरे यहाँ आ धमके और बरामदे में मेरा इन्तजार करने लगे। मैं जब दस बजे लौटा तो उन्हें इस हालत में देख कर पसीज गया। वह राय खुद लिख कर इस लिए लाये थे ताकि मुझे कष्ट न उठाना पड़े। उन्हें उसी रात उसे छपवाना भी था। मैं थोड़ा झिझका और पुस्तक देखने के बाद राय देने का अनुरोध किया, लेकिन वह कब मानने वाले थे। कहने लगे कि आजकल पुस्तक पढ़ कर भी कोई राय देता है। मैं उन से सहमत हो गया। सहानुभूति भी मेरे हृदय में उमड़ रही थी। मुझे पते की एक बात सूझी। खट से लिखित मत के पहले यह जोड़ दिया—'लेखक के मतानुसार' और नीचे अपने हस्ताक्षर कर दिये। अगले दिन क्या देखता हूं 'लेखक के मतानुसार' गायब और राय मेरे मुंह में डाली गयी है। सहानुभूति दिखाने का यह परिणाम अब तक मैं भुगत रहा हूं। मेरे दस्तखत मेरी ही लिपि में छपे हुए हैं। इनकार भी किस तरह कर सकता हूं! तब से साहित्यकारों की जाति से भी सहानुभूति दिखाने में परहेज़ करने लगा हूं। यह भी जानता हूं इन परहेज़ों से अपनी मानवीयता को खोता हूं। अब इस तरह की आलोचना केवल रेडियो पर करता हूं जो सुनने के बाद हवा में उड़ जाती है और उस का सबूत नहीं रहता।

बीमार पड़ने पर

मैं सचमुच मरने से इतना नहीं डरता हूँ जितना बीमार पड़ने से घबराता हूं। इस की एक वजह तो यह है कि मौत एक बार आती है और बीमारी बार-बार। और बार-बार मुझे बहुतेरों के उपदेश सुनने पड़ते हैं; सब की नसीहत को सहन करना पड़ता है। बीमार पड़ने का मतलब है बिस्तर पर पड़ने के लिए लाचार हो जाना। मुझे घर में बीमार पड़ने के बजाय अस्पताल में दाखिल होना बेहतर लगता है, लेकिन मेरी सुनी कहां जाती है। इस से मेरे मित्रों की संवेदना को ठेस लगती है। इन का कहना है कि घर में अकेला हो कर भी मैं अनाथ नहीं हूं। इस तरह इन के दिल में हमदरदी की बाढ़ उमड़ने लगती है जिस के लिए ग़ालिब अपनी शायरी में तरसते रहे। अब तीमारदारों का तांता लगना शुरू हो जाता है। मेरे स्टूडेण्ट्स मेरी बीमारी में भी अपनी हाज़िरी लगवाना नहीं भूलते। पड़ोसी भी शिष्टाचार का पालन करना आवश्यक समझते हैं, परिचितों को वक्तकटी का अवसर हाथ लग जाता है। कुछ अपरिचितों से भी परिचित होना पड़ता है। इन सब को अपनी बीमारी का इतिहास बताना होता है।

●

और इस के बाद मेरे खान-पान के बारे में उपदेशों का सिलसिला शुरू हो जाता है। एक मित्र तो मुझे रोज़ सैर करने की सलाह दे कर ही सन्तोष की सांस लेते हैं। इन का विचार है कि सब रोगों का कारण पेट की खराबी है और सैर इस का असली इलाज है। एक और मेरे मुंह की पिलाहट को देख कर मुझे रोज़ काले चनों का शोरबा पीने का और रोज़ ही पालक का साग खाने का उपदेश देते हैं। ज़ोर, रोज़ पर दिया जाता है। एक तीसरे हैं जो मेरी नब्ज़ पर हाथ रख कर और मेरी आयु का अनुमान लगा कर मुझे कभी-कभी उपवास करने की सलाह देते हैं। इस के लिए वह महात्मा गान्धी का हवाला देते हैं और देश में अन्न की स्थिति की ओर मेरा ध्यान दिलाते हैं। उपदेशक और भी हैं जिन में एक तो केवल फलाहार की बात करते समय मेरी खाली जेब को भूल जाते हैं और दूसरे जो इसे नहीं भूलते, मुझे सुबह-शाम अदरक चबाने की सलाह देते हैं। वह समझते हैं कि

मुझे बात का रोग है। इस तरह खाने-पीने के बारे में मेरे लिए उपदेशों का एक संकलन तैयार हो जाता है। मेरे एक मित्र ने मेरे बिस्तर के ऐन सामने एक कैलेण्डर भी लटका दिया है जिस पर सेहत के दस नियम छपे हुए हैं। पहला नियम सरदियों में सरद पानी से और गरमियों में गरम पानी से नहाने का है, दूसरा सुबह उठने का है, तीसरा चाय के बजाय दूध पीने का है जो प्रायः नहीं मिलता, चौथा शुद्ध घी के इस्तेमाल का है जिस में मिलावट होती है, पाँचवाँ बुरश के बजाय दातुन करने का है। इन सब का अगर मुझे पालन करना है तो मुझे शहर छोड़ कर गाँव में चले जाना होगा और अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा भी देना होगा। इस की वजह यह है, आँखों की तरह सेहत भी भगवान का वरदान है बाबा। इस के लिए सब कुछ करना पड़ता है।

●

इन उपदेशों के सिलसिले के बाद मेरी मेज़ पर औषधियों की क़तारें लग जाती हैं। और औषधियाँ भी हर तरह की हैं—हकीमी, वैद्यक, अँगरेज़ी आदि से ले कर होमियोपैथी तक की। इस का कारण यह बताया गया है कि दवा उसी को कहते हैं जो लग जाये, हकीम, वैद्य या डॉक्टर उसी का नाम है जिस के हाथ में शफ़ा हो। इस लिए कभी-कभी नीमहकीम हकीम से बेहतर समझा गया है; इस में चाहे जान का खतरा ही क्यों न हो। मेरे क़स्बे में डॉक्टर की इतनी धाक नहीं थी जितनी एक कम्पोंडर की, नर्स का इतना मान नहीं था जितना एक अनुभवी दाई का। मुझे बार-बार यह उपदेश दिया जाता है कि बीमारी के मामले में असली चीज़ अनुभव होता है, ना कि हकीम या डॉक्टर की लियाक़त। किताबी लियाक़त में कुछ नहीं बनता। मेरी मेज़ पर हर तरह की शीशियाँ सजी हुई हैं और मेरी बीमारी एक लैबोरेटरी बन गयी है। होमियोपैथी की नन्हीं गोली के साथ पान खाने और चाय पीने की मनाही है, वैद्यक औषधि के साथ मिरच के सेवन का निषेध है। मुझे बड़ी हैरानी होती है जब मुझे यह उपदेश दिया जाता है कि गोली जितनी छोटी होगी असर उतना ही बड़ा होगा। छोटी गोली में शक्ति अधिक होती है। इस तरह सुबह होमियोपैथी का इलाज, दोपहर को वैद्यक, शाम को हकीमी और रात को अंगरेज़ी इलाज हो रहा है। मेरी बीमार जान बिस्तर पर ही नहीं, असमंजस में भी पड़ी हुई है। खाने पर अंकुश लगा हुआ है, उठने पर बन्दिश, पढ़ने पर बन्धन और ज़बान पर ताला। मेरे

लिए सब तरह का आराम जरूरी समझा गया है। इस तरह उपदेशों की दुनिया में सांस ले रहा हूँ। अगर रोग से मुक्ति मिलने में देर है तो उपदेशों से ही निजात मिल जाये। इस से आधा रोग शायद कट जायेगा। मुझे एक मित्र की याद आ रही है जो खाने-पीने के शौक़ीन हैं। एक बार जब वह बीमारी से उठे तो लोगों के उपदेशों के कारण बहुत कमज़ोर हो गए। आख़िर उन्हों ने सोचा कि अगर एक दिन मरना ही है तो भूखों क्यों मरा जाये। एकदम खाना-पीना शुरू कर दिया और वह तगड़े हो गए। मुझ में इतना साहस नहीं है और फिर मैं कहता हूँ कि मैं मरने से डरता नहीं हूँ। अजब विसंगति है जीवन की !

●

एक बार बिस्तर पर पड़े-पड़े इतना परेशान हो गया कि उठ कर खुली धूप और हवा में चला गया। मेरे नौकर ने यह चोरी करते मुझे पकड़ लिया। वह भी यह कह कर उपदेश देने लगा कि डॉक्टर साहब ने बाहर निकलने से रोक रखा है। इस तरह सब के उपदेशों को उसी तरह सुनना पड़ता है जिस तरह आत्मा के रोगी को भगवान के उपदेश सुनने पड़ते हैं। आत्मिक उपदेशों के तो बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं, लेकिन मेरे लिए उपदेशों का संकलन अभी छोटा है जो धीरे-धीरे बड़ा हो रहा है। अब हालत इतनी नाज़ुक हो चुकी है कि नौकर तक ने उपदेश देने की कला को सीख लिया है। अक्सर यह कहा जाता है कि पराधीनता में सुख सपने में भी नहीं मिलता, लेकिन मेरा अनुभव यह है कि पराधीनता से उपदेश पाने की स्थिति अधिक ख़राब है। इस के देने में तो सुख है, पर इसे पाने में दुख ही दुख है। अपने को सुख और दूसरे को दुख देना सब को आता है। तुलसीदास की कौन सुनता है !

इस तरह बीमार पड़ने से और पर-उपदेश सुनने से शारीरिक और मानसिक कष्ट तो हुआ है, पर इस का मुझे लाभ भी हुआ है। एक तो यह कि मुझे इतनी औषधियों के नाम तथा परिणाम याद हो गये हैं कि मैं आधा डॉक्टर समझा जाने लगा हूँ। इस का नतीजा भी भुगत चुका हूँ। एक बार आधी रात को ज़ोर से बजती घण्टी ने मुझे जगा दिया। एक अधेड़ औरत अपनी लड़की के इलाज के लिए मुझे ले जाने पर मजबूर करने लगी। मैं ने बहुतेरा कहा कि मैं किताबी डॉक्टर हूँ, परन्तु वह मुंहमांगी फ़ीस देने की बात करने लगी। मैं ने जा कर देखा कि लड़की की हालत बहुत ख़राब थी। और तो मुझ से क्या बन सकता था; मैं

उसे नीबू-पानी देने की सलाह दे कर लौट आया। सुबह उठते ही खुशी से नाम आँखों से उस औरत ने मुझे खबर दी कि लड़की बिलकुल ठीक हो गयी है। तब से मेरे डॉक्टर होने की शोहरत फैलती ही गयी है। क्या खाना चाहिए और पीना चाहिए—इस के बारे में भी मेरी धाक जमती ही गयी है। आज मैं पर उपदेश देने की कला में कुशल हो गया हूँ ताकि आप को विश्वास हो जाये कि मैं वास्तव में बीमार पड़ा था। अगर मैं सच बोलता कि मैं कभी बिस्तर पर नहीं पड़ा, तो आप मेरा यह उपदेश कहाँ सुनते। उपदेश देने के लिए झूठ बोलने की कला सीखनी पड़ती है।

मित्रों के मशवरे

हर इनसान की तरह मेरी ज़िन्दगी में भी दोस्तों की कमी तो हो सकती है; लेकिन सलाहकार दोस्तों की नहीं। इन के क़ीमती मशवरों से यह बाहर से तो भरी रहती है; लेकिन भीतर से ख़ाली रह जाती है। मेरे मित्र मुझे अपने से सलाह लेने का अवसर ही नहीं देते। अगर इन की अनसुनी करता हूँ तो इन की मित्रता से वंचित रह जाता हूँ। इस लिए इन की सलाहों के साँचे में मेरा जीवन ढलता आया है। एक मित्र मुझे सदा सावधानी बरतने की सलाह देते रहते हैं। अगर मैं ने गाड़ी चलाने की सोची है तो **बचाव में बचाव है** की सलाह दी है। यह और बात है कि सावधानी के कारण मैं एक बार स्कूटर से बुरी तरह गिर चुका हूँ। इस के बावजूद वह यह कहने से परहेज़ नहीं करते कि अगर मैं असावधान होता तो मौत के मुँह में चला गया होता। इन्होंने हमेशा यह मशवरा दिया है कि ज़िन्दगी में तेज़ दौड़ने से मुँह की खानी पड़ती है। सावधानी की वजह से मैं अब तक ज़िन्दा हूँ। क्या हुआ कि स्कूटर से गिरने पर मुँह पर दो-चार स्थायी दाग लग गये हैं। इसी अन्दाज़ से वह हमेशा बायें हाथ चलने की सलाह देते हैं। इस तरह पैदल चलने से भी दो-चार बार भिड़ चुका हूँ। सब लोग सावधानी की परवाह नहीं करते। कुछ मानववादी तो सड़क के ऐन बीच में चलते हैं। इन का कहना नहीं, तकाज़ा है कि सड़कें आदमियों के चलने के लिए बनी हैं न कि गाड़ियों के लिए। मेरे मित्र तो यह सलाह देने से भी बाज़ नहीं आते कि सड़कों पर भटकने के बजाय घर में बैठे रहना बेहतर है। इस से जान को ख़तरा नहीं है। यह बात उन की समझ से बाहर है कि घर से बाहर क्यों इतनी भीड़ है, लोग किस लिए बिना काम के इधर-उधर भटकते रहते हैं। मेरे मित्र की नेक सलाह यह है कि लोगों से मिलना भी बेकार है। अगर जीवन में बोरियत है तो घर में बैठ कर इस का सामना किया जा सकता है। और बिना इस का सामना करने से ज़िन्दगी में कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। बाहर सहसा मरने के बजाय घर में घुल-घुल कर मर जाना वे बेहतर समझते हैं। इतने गहरे मित्र की सलाह को अगर मैं नहीं मानता तो मेरे ही नसीब खोटे हैं। इस लिए सब काम सावधानी से करने की कोशिश में

जुटा रहता हूँ। धन कमाना है तो सावधानी से और खरच करना है तो अधिक सावधानी से। यहाँ तक कि हजामत भी सावधानी से बनाता हूँ ताकि गालों पर कहीं टक न लग जाये। अभी तक मेरे मित्र ने मुझे सन्तान पैदा करने के बारे में सावधानी बरतने की सलाह नहीं दी। इस के लिए न तो इनके पास अनुभव है और न ही मेरे पास साधन। वह अनुभूतियों के आधार पर मशवरा देने के हक़ में हैं। इस मामले में वह चुप रहना बेहतर समझते हैं।

●

एक और सलाहकार मित्र हर काम और हर बात में संयम क़ायम रखने का संकेत-भर देते हैं। यह इस लिए कि लम्बी-चौड़ी हाँकने का ज़माना गुज़र चुका है; किसी के पास अब फ़ुरसत ही नहीं है। आज तो इशारों के दिन हैं। वह बहस करने तक को बेकार समझते हैं, यह तो पानी बिलोने के बराबर है। इन के अनुसार हर व्यक्ति के अपने-अपने वहम होते हैं। वह अपने वहमों को विचार समझता है। यह इस लिए कि वहमों को बुरा माना जाता है और विचारों को भला। असल में इनसान वहमों से चिपका रहता है कि कहता यह है कि वह अपने विचारों पर क़ायम है। किसी से बहस करना इस के वहमों को तोड़ना है या अपने वहमों को तुड़वाना है। इन के टूटने से मन को गहरी ठेस लगती है। मेरे मित्र की नेक सलाह यह है कि संयम से काम ले कर सब से सहमत होना बेहतर है। इस से अगर कुछ बनता नहीं तो बिगड़ता भी नहीं है। वह भी ठीक है, तुम भी ठीक हो और मैं तो हमेशा ठीक हूँ। अगर मैं अपने दोस्त से पूछता हूँ कि यह किस तरह हो सकता है। इन का जवाब सरल और गम्भीर है। सत्य के बारे में कौन अन्तिम राय दे सकता है? इस के साथ वह यह भी जोड़ देते है कि जीवन में सब कुछ चलता है—खोटा भी और खरा भी। संयम से इनसान गोलमाल बना रहता है, तीखे किनारों से तो रगड़ ही पैदा हो सकती है। असहमत होने से सब नाराज़ हो जाते हैं, सहमत होने पर मात्र अपने को ही नाराज़ किया जा सकता है जो बेहतर है। और इस का नाम संयम है, तप और त्याग है। इन की सलाह के आगे हथियार डालने पड़ जाते हैं। इसे भूल कर कभी-कभी मैं आपे से बाहर भी हो जाता हूँ जिस का बाद में पछतावा भी होता है। मेरे मित्र अपने संयम से मुश्किल को आसान बना लेते है और मैं हूँ कि आसान को मुश्किल बना डालता हूँ और कभी-कभी असम्भव भी। इन के सम्बन्ध बनते जाते हैं और मेरे बिगड़ने पर उतरे हुए हैं।

मैं पूरी तरह इन की सलाह के आगे झुक जाता अगर एक और सलाहकार मित्र मुझे हर व्यक्ति से झगड़ा मोल लेने का मशवरा न देते रहते। वह जहाँ भी होते या जाते हैं अपने आस-पास को दो दलों में बाँट लेते हैं—एक पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। अगर अकेले जंगल में रहना पड़ जाये तो वह पेड़ों को दो दलों में बांटने की सलाह देते हैं। दुश्मनी के अभाव में दोस्ती अपना वज़न खो देती है। अगर मैं इन से पूछ बैठता हूं कि सब से लड़ते रहना घाटे का सौदा है तो इस का तुरंत यह जवाब मिल जाता है कि ज़िन्दगी भी तो घाटे का सौदा है। इनसान इस के वरदान से दण्डित है। वह सब को खरी-खरी सुनाने की सलाह देते रहते हैं। इस तरह हर सलाहकार मित्र की तरह यह भी अपना नुस्खा लिये हुए हैं। इन का कहना है कि खरी-खरी सुनाने से अपने मन का बोझ तो कम हो जाता है। वह यह भूल जाते हैं कि इस से दूसरे का भारी हो जाता है। संयम की सलाह का मुझ पर इतना गहरा असर नहीं पड़ता, जितना असंयम के मशवरे का। अगर मशवरा देने वाले मित्र दो-चार हों तो आदमी सोच भी सकता है, लेकिन अगर इन की तादाद अधिक हो तो आदमी सोच में पड़ जाता है।

●

आम तौर पर एक बार जब किसी को सलाह देने की लत पड़ जाती है तो यह छूटने में नहीं आती। मेरे एक और दोस्त ने मशवरा देने का पेशा अपना लिया है। वह जहाँ जाते हैं इसे देने की खोज में लग जाते हैं। अवसर पाते ही मशवरों की झड़ी लगा देते हैं। अगर किसी के यहां लड़की जवान हो चली है तो वक़्त पर इस की शादी करने की सलाह देने लगते हैं, अगर लड़का पढ़-लिख चुका है तो उसे काम खोजने का मशवरा देना शुरू कर देते हैं। इन का शायद यह विश्वास है कि मां-बाप को अपनी सन्तान की इतनी चिन्ता नहीं होती जितनी मित्रों को। अगर शाम को मैं घर से नहीं निकलता तो लोग मुझे सैर करने की सलाह देने लग जाते हैं। वह बातों-बातों में पता लगा लेते हैं कि किसे बात की शिकायत है, किसे पित्त की और किसे कफ की। मेरे सलाहकार मित्र ने ज़िन्दगी के हर पहलू पर थोड़ा-बहुत पढ़ रखा है और हर मसले पर अपने को सलाह देने के क़ाबिल बना रखा है। इस लिए इन का मशवरा अनकहे और अनचाहे ही मिल जाता है। इनकी क़ीमत भी कुछ नहीं है। एक नेक डॉक्टर की तरह वह अपने

मरीज़ों का पीछा करते हैं। इस तरह इन का स्वस्थ होना भी कठिन हो जाता है। एक सलाह के बाद दूसरी-तीसरी का तांता बांध देते हैं। बिल्ली की तरह शाम तक सात घरों में घूम आते हैं। इसके बिना इन्हें रात को नींद नहीं पड़ती। इन का सब घरों में उसी तरह आदर होता है जिस तरह पुराने ज़माने में उस नापित का जो लड़के-लड़कियों का गठबन्धन करवाता था। अगर सोने का घड़ा विष के रस से भी भरा हुआ हो तो इस का कौन निरादर कर सकता है। कनक-घट से विष भी पीना पड़ता है।

डायरी की बात

यह वह डायरी नहीं है जिसे निजी जीवन की डायरी कहते हैं, जिस में आत्मीय अनुभवों या राज़ की बातों को लिखा जाता है, ताकि बाद में आत्मकथा लिखने समय इन का उपयोग किया जा सके। एक बार इस डायरी को भी पालने का निश्चय किया था, लेकिन एक साल के बाद ही जब इसे पढ़ा तो सब कुछ इतना नीरस लगा कि इसे फाड़ कर जला दिया। न मेरे पास आत्म था और न ही मेरे जीवन में कथा थी। इस लिए आत्मकथा लिखने का सवाल ही नहीं पैदा हो सकता था। इस वक्त डायरी से मेरा आशय उस नोटबुक से है जिसे दैनिक डायरी का नाम दिया जाता है, जिस में कहाँ जाना है, किस से मिलना है, क्या पढ़ाना है, कौन-कौन काम करना है आदि लिखकर रख लिया जाता है ताकि सब कुछ भूल न जाऊँ और डायरी धरी की धरी न रह जाये। इसे इस लिए भी पालता हूं कि मैं घर में अकेला हूं, नौकर है तो वह भी अनपढ़। और दूसरा याद दिलाने वाला है नहीं। एक और भी वजह डायरी पालने की है। मुझ में अपने वचन को निभाने का संस्कार आवश्यकता से कुछ अधिक दृढ़ है। यह विचार प्रायः रूढ़ हो चुका है। मैं यह जानता हूं कि आज के युग में रघुकुल-रीति के पालन करने की धारणा पुरानी पड़ चुकी है। इसे रूढ़ि का नाम भी दिया जाता है। और रूढ़ि तथा आधुनिक बोध में घोर विरोध है। मुझ में आधुनिक बनने की उतनी ही लगन है जितनी वचन पालन करने की धुन। अपने पुराने संस्कार का शिकार होने के कारण डायरी रखने में विश्वास करना आया हूं, ताकि न किसी को मुझ से शिकायत करने का अवसर मिले और न ही मुझे अपने से गिला हो। इस लिए सब कुछ जो हर रोज़ मुझे करना होता है इस नोटबुक में लिख लेता हूं। इस के मुख-पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिख रखा है—'यह हीरा जनम है, इसे गँवाना नहीं है'। हमारे सन्त भी यही सीख देते रहे हैं कि मनुष्य जनम बार-बार नहीं मिलता। अगर डायरी रखने से जीवन को अनमोल बनाया जा सकता है, इसे गँवाने से बचाया जा सकता है तो यह साधना अधिक कड़ी नहीं है। सन्तों ने इतना तप कर के अपने जीवन को सारवान बनाया था। मुझे तो केवल डायरी रखनी है।

जब मैं बढ़िया डायरी खरीदने के क़ाबिल नहीं था तब खाली काग़ज़ों को सी कर मैं इन से नोटबुक का काम लेने की कोशिश करता था। मुझे याद है कि इस में मैं इस तरह की बातें लिखा करता था—सुबह दूध के साथ एक सेब खाना है, आज किसी के विवाह पर जाना है, आज किसी नेता का भाषण सुनने जाना है, आज चाय-पान का निमन्त्रण है, आज किसी को पत्र लिखना है, आज घर वालों को पैसे भेजने हैं, आज किसी की खुशामद करने जाना है। सुबह उठ कर डायरी का पाठ उतनी लगन से करता जितनी तन्मयता से एक बुढ़िया 'हनुमान चालीसा' का करती है या सुबह सैर करने वाला गीता का करता है। लेकिन होता क्या था? ऐन वक़्त पर अतिथि आ टपकता था—वह आदमी जिस के आने की पहले न सूचना हो, न तिथि हो। अतिथि की सेवा में जुटना पड़ता था। यह भी पुराना संस्कार है जो आधुनिक बोध के विपरीत बैठता है। पूरा सेब आधा रह जाता था, सब काम अधूरे पड़ जाते थे और डायरी धरी की धरी रह जाती थी। परिणाम—सब के प्रति और अपने से शिकायत, इस हीरे जनम को गंवाने की कचोटने वाली अनुभूति! यह उन दिनों की बात है जब जीवन में इतनी व्यस्तता नहीं थी, नोटबुक के काफ़ी सफ़े खाली रह जाते थे।

●

इसके बाद हालात ने करवट ली और मुझे किसी कारण बढ़िया डायरियाँ मुफ़्त में मिलने लगीं। मुझे लगा कि अब बढ़िया डायरी के बल पर अपने दैनिक जीवन को व्यवस्थित करने की अधिक सम्भावना होगी। इस का ज्ञान मुझे कुछ लेखकों से हुआ था। उन का कहना था कि जब तक क़लम और काग़ज़ बढ़िया न हो तब तक रचना बढ़िया नहीं हो सकती। मैं ने क़लम भी मँहगी ख़रीद ली। इस के अलावा बड़े आदमियों की जीवनियों में भी यह पढ़ रखा था कि वे डायरी रखते थे और उस का पालन उन की महानता का रहस्य था। मेरा आत्मविश्वास गहराने लगा। मैं भी डायरी-पालने के आधार पर इन की क़तार में खड़ा होने के लिए ललचा उठा। इस लिए मैंने दृढ़ निश्चय किया कि घटिया नोटबुक के अनुशासन में अगर मैं नहीं रह सका, तो अब बढ़िया डायरी के साँचे में जीवन को ढालने का अवश्य प्रयास करूँगा; लेकिन होनी में महान् बनना लिखा नहीं था और होनी की डायरी मेरी डायरी से अधिक बढ़िया निकली।

हर रोज़ इस का पाठ करने लगा—आज क्या पढ़ाना है, आज किस को आना है, आज किस गोष्ठी में सभापति की कुरसी पर बैठना है। कुछ समय तक यह पाठ चलता रहा और मैं मशीन की तरह काम करता रहा। एक दिन नौकर ने मेरे कमरे की झाड़-पोंछ की और डायरी मेरे हाथ न लगी। इस का परिणाम यह निकला कि पढ़ाने के लिए गलत किताबें उठा कर ले गया, गोष्ठी में वक़्त पर न पहुँचने पर किसी और को सभापति के आसन पर बैठे पाया, रात को आमन्त्रित मित्र खाने के समय आ धमके और नौकर हैरान हो कर मुझे ताकने लगा, मेरे कोट का बटन दिनों टूटा रहा। मेरे मन ने विद्रोह किया। डायरी की दासता क्या मेरे मुक्त स्वभाव के अनुकूल है? इसी तरह एक दिन जब मैं इस की दासता में बुरी तरह जकड़ा हुआ था, तब शाम को मुझे शिमला के रेडियो स्टेशन पर बोलना था। उस समय मैं माल रोड पर चहल-क़दमी कर रहा था और रौनक़ देख रहा था। सुबह मैंने डायरी का पाठ भी कर लिया था। एकदम बिजली की कौंध की तरह मुझे लगा कि शाम को एक टांक देनी है। घड़ी देखी और माल रोड पर इस तरह भागना शुरू किया जैसे पीछे से पागल कुत्ता काटने को दौड़ रहा हो। मेरा जलूस निकल रहा था। इस की उपेक्षा करते हुए हाँफते-हाँफते जब मैं स्टूडियो में धम से पहुँचा तो पाया कि वहाँ फ़िल्मी गीत सुनवाने की तैयारी हो चुकी है; लेकिन सुनने वालों की क़िस्मत उन के साथ नहीं थी। साँस अभी फूल रही थी और इस स्थिति में मुझे बोलना पड़ा। यह डायरी पालने और उसका पाठ करने का परिणाम निकला। इस तरह वह धरी की धरी रहने लगी। मैं ने निश्चय किया कि इसे तलाक़ देना ही उचित होगा। इस के बजाय मैं ने कैलेण्डर से डायरी का काम लेने की सोची। रोज़-रोज़ डायरी का पाठ करना उबाने वाली बात थी। मैं ने लाल पेंसिल से मोटे-मोटे अक्षरों में उस पर नोट करना शुरू कर दिया। सुबह उठकर डरते-डरते उस पर नज़र डालना। अक्षर बड़े-बड़े हो कर मुझे डराते लगते। आज एक निबन्ध पूरा करना है, आज एक रोगी को देखने जाना है, आज किसी के यहाँ शोक प्रकट करने जाना है, आज स्कूटर की फ़ीस भी देनी है, आज लायब्रेरी में पुस्तकें लौटाने की आख़िरी तारीख़ है। इन में आधे काम हो पाते थे और आधे रह जाते थे।

•

इस तरह दैनिक डायरी का अनुशासन मेरे लिए भूत बन गया। इस से बेहतर

तो वह स्थिति होती जब कुछ याद न रहे। इस तरह डायरी मेरे लिए वरदान की जगह अभिशाप बनने लगी। डायरी की सहायता से व्यस्तता निभाने के बजाय मेरी संकुलता गहराने लगी। मैं धीरे-धीरे अपनी सहजता खोने लगा और यन्त्र बनने लगा। इतनी निष्कपट लगन और इतने दृढ़ निश्चय से डायरी रखना बेकार सिद्ध होने लगा। असल में डायरी का पालन करना और हर पत्र का उत्तर देना महान व्यक्तियों को ही शोभा देता है। आज के युग में मेरे-जैसे छोटे आदमी के लिए हर वचन का पालन करना भी कठिन हो रहा है। इस कड़वे अनुभव के बाद मुझे पूरा विश्वास हो गया कि मेरी नियति लघु-मानव की है, अतिमानव की नहीं। मुझे में न तो अतिमानव की अपार शक्ति है और न ही असीम महन-शक्ति। डायरी का रोग लगाना अतिमानव के बस की बात है। इस में डायरी का दोष नहीं, दोष मेरा था, जिस ने अपनी सीमाओं को पहचाना नहीं था। मुझे मालूम नहीं था कि महामानव बनने की धुन में अपनी मानवीयता से भी वंचित होने लगूंगा। मैं नहीं जानता था कि डायरी से मेरी व्यस्तता बढ़ जायेगी। मुझे मशीन की तरह काम करना पड़ेगा और नतीजा सिफ़र निकलेगा। अब मुझे लघु मानव की नियति से स्नेह है। यह नयी कविता के बारे में सही हो या न हो, मेरे विषय में सौ पैसे सही है। मेरी सीमित स्मरण-शक्ति मेरे सीमित जीवन के लिए काफ़ी है, दो-चार से आत्मीय सम्बन्ध रखना अनेकों के सतही नाते से बेहतर है। अब दैनिक डायरी धरी की धरी है और मेरा मन मेरी डायरी है। जहां जी चाहता है, वहां चला जाता हूँ, जिसे मिलने को मन होता है, उसे मिल लेता हूँ। उपचार और डायरी के बन्धन टूट चुके हैं। अपवाद वे हैं—एक जब पढ़ाने के लिए वक़्त की पाबन्दी है और दूसरी डायरी के अनुसार जब रेडियो पर बोलना होता है।

प्रणय-निवेदन की बात

चिरकाल से भक्त अपने भगवान से प्रणय-निवेदन की बात करता आया है और वह उसे सुनते भी रहे हैं। इतना ही नहीं वह दुःख में उस की सहायता भी करते रहे हैं। कबीर के साहब, मीरा के गिरिधर गोपाल, तुलसी के राम, सूर के कृष्ण भक्त के प्रणय-निवेदन पर विश्वास करते आये हैं, परन्तु आज के आस्थाहीन युग में न तो प्रणय-निवेदन की बात करते बनती है और न ही प्रेमी-प्रेयसी की इस में आस्था ही है। आज न तो भगवान में इतना विश्वास है कि उस से प्रयण-निवेदन की बात की जाये और न ही मानव में इतनी आस्था है कि प्रेमी-प्रेयसी अपने मन के रहस्य को व्यक्त कर सकें। आज मन में इतनी गांठें पड़ चुकी हैं कि उन्हें खोलने में आयु बीत जाती है और मन की बात मन में ही रह जाती है। जीवन की जटिलता ने भावों की सहजता को कुण्ठित कर रखा है और संकोच की भावना को गहरा दिया है। इस लिए आज प्रेमी तथा प्रेयसी दोनों के हृदय पर सामाजिक अंकुश लगा हुआ है, उन की मानसिक उलझनें उन्हें प्रणय-निवेदन की बात करने से रोकती रहती हैं। इस का सीधा परिणाम यही निकलता है कि बात घुट कर मर जाती है। इस का यह कारण भी हो सकता है कि आज सभी भगवान बनना चाहते हैं, भक्त बनने के लिए प्रेमी-प्रेयसी में विनीत भाव का अभाव है। आज का युग अहं की पूजा का युग है, स्वयं की आराधना का काल है। यह अहं प्रणय-निवेदन की बात कहने में बाधा बन कर आता है। प्रेमी तथा प्रेयसी में यह होड़ लगी रहती है कि पहले बात कौन करे और इसी होड़ में अवसर हाथ से सदा के लिए निकल जाता है और दोनों हाथ मलते रह जाते हैं।

●

असल में हर देश में प्रयण-निवेदन के अपने-अपने तरीके हैं और भारत में पुराना रिवाज, जिसे हम भूल चुके हैं, यह था कि पहले नारी तान तोड़ती थी। और बाद में पुरुष उस का आलाप करता था। पश्चिम के देशों में पुरुष पहले नारी से प्रस्ताव करता है और वह बाद में उस का अनुमोदन करती है। यह तभी सम्भव होता है जब दोनों की चार आंखें मिल चुकी होती हैं, दो हृदय एक-साथ

धड़क चुके होते हैं; परन्तु यहां स्पन्दन की स्थिति तक पहुँच कर भी प्रणय-निवेदन की बात अधरों से बाहर नहीं निकल पाती और वह दिल में ही मर जाती है। इसे कहने के लिए ठीक अवसर और ठीक भाषा की अपेक्षा होती है। अगर अवसर बात के अनुकूल न हो और भाषा इसके अनुरूप न हो तो सारे खेल के चौपट होने की सम्भावना बनी बात को बिगाड़ देती है। अगर बजते-बजते वीणा का तार टूट जाय या चलते-चलते रेलगाड़ी पटरी से उत्तर जायें तो फिर उस वीणा में प्रणय का स्वर निकालना या उस रेल गाड़ी को फिर से चलाना कितना मुश्किल हो जाता है इस का अनुमान ही लगाया जा सकता है। कभी-कभी तो प्रणय-तन्तुओं में इतनी पक्की गाँठ पड़ जाती है कि उसे खोलना असम्भव हो जाता है। प्रणय-निवेदन जब तक सहज और मुक्त रूप में नहीं हो पाता तब तक वह विफल ही बना रहता है। जब तक दो हृदयों का अभिन्न मिलन नहीं हो पाता तब तक प्रणय-निवेदन अकारथ बना रहता है। इसे सकारथ बनाने में पैनी दृष्टि, उदार मन, निष्काम काम, अगाध विश्वास, अपार आस्था, असीम सहिष्णुता आदि गुणों की आवश्यकता होती है। इन गुणों के होते हुए भी कभी-कभी प्रणय-निवेदन त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटका रहता है। न ही वह आकाश को छू कर मिटता है और न ही धरती पर उतर कर सफल होता है। इस तरह बात कहते नहीं बनती, लटकती ही रह जाती है।

●

इस बात के विविध रूप हैं और इसे कहने की विभिन्न शैलियां हैं। इस लिए प्रणय-निवेदन को किसी एक रूप में बांधना और इसे किसी एक शैली में व्यक्त करना कठिन है। इस की अनुभूति और अभिव्यक्ति की अनेकरूपता इस की परिस्थिति और आयु पर आश्रित होती है। प्रणय-निवेदन कुमार और कुमारी, चिरकुमार और चिरकुमारी, विवाहित और अविवाहित आदि में हो सकता है। कुमार और कुमारी के प्रणय-निवेदन में भावुकता अधिक होती है, चिरकुमार और चिरकुमारी में मानसिक तन्मयता की अपेक्षा अधिक होती है, विवाहित और अविवाहित में कुण्ठा की मात्रा अतिरिक्त होती है। भावुकता की धारा में बहता हुआ कुमार अपनी प्रेयसी से जब प्रणय-निवेदन करना चाहता है तो उस के पास प्रणय-भाषा का अभाव होता है। एक युवक के पास इन शब्दों की डायरी थी और वह उसे बार-बार जेब से निकाल कर उन शब्दों का उच्चारण करने लगता था

जिन्हें उस ने एकत्रित कर रखा था—"मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकता, मुझे रात को नींद नहीं आती, अगर तुम मुझ से प्रेम नहीं करोगी तो मैं नदी में डूब मरूँगा।" आज की कुमारी को इन वाक्यों के सुनने की आदत पड़ चुकी होती है। वह जानती है कि रात को जागने वाले दिन को गहरी नींद सोते हैं, उस के बिना न जीने वाले सब लड़कियों को इसी तरह कहते हैं और आत्म-हत्या की धमकियों में सार नहीं होता। इस तरह युवक प्रणय-निवेदन की बात कह तो देता है, लेकिन उसे कहने का ढंग नहीं आता, बात कही हो कर भी अनकही रह जाती है। चिर-कुमार और चिरकुमारी में परिस्थिति और भी जटिल होती है, दोनों को प्रेम से डर लगता है; एक-दूसरे के निकट आने में संकोच होता है। इन्हें चिरकाल से अकेले रहने की इतनी आदत पड़ चुकी होती है कि वे एक-दूसरे के पास आकर फिर दूर जाते हैं, एक-दूसरे से प्रेम होने पर भी प्रणय-निवेदन नहीं कर पाते। विवाहित और अविवाहित में प्रेम-निवेदन खतरे से खाली नहीं होता। इन की तीन श्रेणियाँ हो सकती हैं—पुरुष विवाहित है और नारी अविवाहित, नारी विवाहित है तो पुरुष अविवाहित और तीसरी श्रेणी में पुरुष और नारी दोनों विवाहित हैं। इस तरह तिकोन और चारकोन की स्थिति में प्रेम-निवेदन इतनी समस्याओं को लाकर खड़ा कर देता है कि बात कहते नहीं बनती—तलाक़, सन्तान, समाज और कानून की उलझनें बात पर इतना कठोर प्रतिबन्ध लगा देती हैं कि वह अनकही रह जाती है। कभी-कभी ये लोग साहित्य में व्यक्त प्रणय-निवेदन की शैली का अनुकरण करने लगते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि साहित्य और वास्तविक जीवन में कितना अन्तर होता है। एक बार एक विवाहित नारी ने मुझे यह बताने का साहस किया कि 'उस के प्रेमी ने पाश्चात्य उपन्यासों से प्रणय-निवेदन की शब्दावली को रट रखा था और वह और बातें तो अपनी भाषा में करता था जो सहज मालूम होती थीं और प्रेम की बात वह अँगरेज़ी में करने लगता था जिस से बनावट की गन्ध आती थी। इस तरह मुझे विश्वास हो गया कि उस के प्रेम में बनावटीपन है। जब मैं उस से अपने तलाक़ और परस्पर विवाह की बात चलाती थी तो वह मौन हो जाता था। उस के प्रेम-निवेदन का स्वर झूठा था। यदि सच्चा था तो उसे इस स्वर को निकालना नहीं आता था।' इस प्रकार अधिकांश परिस्थितियों में प्रणय-निवेदन की बात दब कर रह जाती है।

आज के व्यक्तिवादी युग में प्रणय-निवेदन का महत्त्व भी दिनोदिन बढ़ रहा

है। लड़का और लड़की स्वयं अपने जीवन-साथी को चुनना चाहते हैं। इसके लिए न तो उनके पास बात होती है और न ही बात कहने का ढंग। पुराने युग में नापित की सेवा से विवाह का काम हो जाता था। वह शिकार खेलने के काम में सिद्ध था। आज युवक और युवती खुद शिकार इस लिए करना चाहते हैं कि मरे शिकार को चखने में स्वाद नहीं रहा; लेकिन आज के लड़के-लड़कियों को न तो बन्दूक़ चलानी आती है और न ही बन्दूक़ में गोली भरना, यहाँ तक कि केडिटकोर के लड़के-लड़कियों को भी इस कला में कुशलता हाथ नहीं लगती। इन की बन्दूक़ों और गोलियों को ज़ंग ही लग जाता है और प्रणय-निवेदन की बात धरी की धरी रह जाती है। असल में बात तो एक है और बहुत सीधी है। इस लिए इसे तूल देना पड़ता है, दुहराना पड़ता है, पेंचदार बनाना पड़ता है। इस व्यवहार में असली बात उलझ जाती है और कहते नहीं बनती। मैं ने भी यही काम किया है और इस बात को इतना दुहराने पर भी मैं अपने सुनने वालों से प्रेम-निवेदन नहीं कर पाया हूँ।

इसकी आदत नहीं

ज़िन्दगी में आदत बुरी बला है। इस से छुटकारा पाने की जितनी कोशिश करता हूँ उतना ही इस में जकड़ जाता हूँ और अपनी आदत से मजबूर हो जाता हूँ। मैंने बचपन से, जब से अपने होश में हूँ, समझ से काम लेने की आदत नहीं डाली, जिस का नतीजा यह निकला है कि ज़िन्दगी में जितने भी काम या सौदे किये हैं, घाटे के किये हैं। शादी नहीं की है या शादी नहीं हो सकी है तो इस की वजह यह है कि मुझे अक़्ल से काम लेने की आदत नहीं है। अक़्ल कहती रही है कि शादी के बिना ज़िन्दगी अधूरी होती है, बुढ़ापे में आदमी अकेला रह जाता है, बूढ़ी ही बूढ़े से बात करती है और सब छोड़कर चल देते हैं। अक़्ल यह भी सीख देती रही है कि सब लड़कियां शादी के लिहाज़ से तक़रीबन बराबर होती हैं। इसलिए शादी किसी से हो सकती है, शादी का मुहब्बत से कोई वास्ता नहीं है। लेकिन दिल नहीं माना है। दिल और दिमाग़ में हमेशा दुश्मनी रही है। दिल की जीत और समझ की हार होती रही है। इसकी वजह यह है कि मैंने समझ से काम लेने की आदत ही नहीं डाली, जिसका नतीजा आज भुगता रहा हूँ। यह फल मीठा है या कड़वा—यह कहना बहुत मुश्किल है। आज अगर बच्चे नहीं हैं जिन से दुलार किया जाये तो मित्रों के इतने बच्चे हैं जो बाप से ज़्यादा अंकल के पास दौड़ते हैं। अंकल के पास खिलौने हैं, किताबें हैं और साथ खेलने के लिए वक़्त भी है। नैम्ब के सपनों के बच्चे नहीं असली बच्चे हैं जो खेलते-कूदते, हँसते-रोते हैं। लेकिन सब वक़्त ये अपने पास नहीं हो सकते। समझ में आता है कि इन से मोह करना बेकार है। आख़िर ये अपने नहीं हो सकते; लेकिन समझ से काम लेना मुझे आया ही नहीं और न अब इसके आने की गुंजाइश है। आदत पक चुकी है। जब बच्चे से खेलना नहीं मिलता तो बाग़ में फूल लगाता रहता हूँ जिन से दिल बहल जाता है। इन को बड़े होते देखकर दिल उतना ही ख़ुश होता है जितना किसी बच्चे को तुतलाते हुए देख कर माँ-बाप का जी खिल उठता है। सुबह एक-एक पौधे को सेहतमन्द देख कर दिल को तसल्ली होती है; लेकिन पंछी बड़े हो कर घोंसले से उड़ जाते हैं और फूल खिलकर मुरझा जाते हैं। अक़्ल का

कहना है कि किसी से मोह करना बेकार है, लेकिन मोह के बिना जिन्दगी फीकी पड़ जाती है। कभी-कभी जब मौक़ा हाथ आता है और दोस्तों की बीबियों से पूछता हूँ कि शादी के बारे में आप का क्या ख़याल है तो आम तौर पर यही जवाब मिलता है— डॉक्टर साहब, शादी शादी है और मुहब्बत मुहब्बत और इन का आपस में मिलना नामुमकिन है। अगर आप अक़्ल से काम लेते तो यह सवाल ही न उठता। अगर आपने समझ से काम नहीं लिया तो माँ-बाप की समझ से काम लिया होता। दोस्तों की बीवियाँ इतनी सीधी होती हैं कि उन को यह बताने से कतरा जाता हूँ कि माँ बचपन में ही चल दी थी और बाप को लड़कियों की शादी करने की ज़्यादा चिन्ता होती है। बहरहाल समझ से काम लेने की आदत नहीं है जिस से मजबूर हूं।

●

इस सिलसिले में अपनी आदत की मजबूरी की एक और मिसाल याद आ जाती है। अगर तरक़्क़ी करनी हो तो अक़्ल कहती है कि लोगों से बनाकर रखनी चाहिए, उन की तारीफ़ करनी चाहिए, चाहे वह झूठी हो, उन की ख़ुशामद करना ज़रूरी है, चाहे इस से दिल को दुःख हो। इस पर मैं ने बहुत-सी किताबें भी पढ़ रखी हैं जिन की लाखों कापियां बिकी हैं और जिन से बहुतों ने लाभ भी उठाया है। इन किताबों से मैंने बहुत-सी बातों को एक कापी पर उतार रखा है और इन को बार-बार अपने दिमाग़ में बिठाने की कोशिश भी करता हूं; लेकिन नतीजा सिफ़र ही निकलता है। दोस्तों से दुश्मनों की तादाद बढ़ती जाती है। तरक़्क़ी तो क्या पाती है, उलटे नीचे की तरफ़ तरक़्क़ी होती जाती है। आदत की मजबूरी की वजह से जबान पर क़ाबू नहीं है। साफ़-साफ़ कह देने से जी हलका हो जाता है, इनकार कर देने से मन पर बोझ नहीं पड़ता। यह जानता हूं कि अक़्ल से काम नहीं ले रहा हूँ, कापी से सफ़े उलट कर बाद में पता चल जाता है कि यह बात इस तरह करनी चाहिए थी। तीर के छूट जाने के बाद या चिड़ियों के खेत चुग जाने के बाद समझ तो आ जाती है, लेकिन वक़्त पर नहीं आती। वक़्त पर आदत ही साथ देती है। इस तरह जिन्दगी में एक तरफ़ अक़्ल का तक़ाज़ा है जिसे तनहा छोड़ देता हूँ और दूसरी तरफ़ मजबूरी है जो मरे हुए बच्चे की तरह बन्दरी से चिपकी रहती है।

•

मैंने कई बार तय किया है कि अपनी किताबें किसी को पढ़ने के लिए उधार नहीं दूंगा। अपनी अलमारियों पर मोटे-मोटे इलफ़ाज़ में शेक्सपीयर की इस नसीहत को लिखवा रखा है—'न उधार देना और न ही उधार लेना ठीक है। इस से दोस्ती में अन्तर पड़ जाता है।' अलमारियों को ताला भी लगा रखा है ताकि किताब मांगने वाले को यह कहा जा सके कि चाबी मिल नहीं रही है। लेकिन होना क्या है? पढ़ने वाला अपने शौक़ का इस तरह इज़हार करता है कि बिना किताब पढ़े उसे रात को नींद नहीं आयेगी। 'वाह-वाह, डॉक्टर साहब, इस किताब की तलाश में मैं बहुत अरसे से था। आप को यह किताब कहां से मिल गयी?' हालांकि थोड़ी किताबें मेरी ख़रीदी हुई हैं और बहुत-सी मुझे किसी वजह से मुफ़्त में मिल जाती हैं। हिन्दी में तो किताबें ख़रीदने का रिवाज ही कम है। अव्वल तो इन्हें पढ़ने की आदत नहीं है और अगर कुछ लोगों को इसकी आदत है तो वे किसी से मांग कर ही पढ़ते हैं और कभी-कभी इन के चोरी होने की बात भी सुनने में आती है। बहरहाल, पढ़ने वाला और ख़ास कर पढ़ने वालों को इनकार करना समझ में तो आ जाता है, लेकिन समझ से काम न लेने की आदत बहुत पुरानी है और नयी आदत को पालना भी कितना मुश्किल होता है। चाबी मिल जाती है, ताला खुल जाता है। यह जानता हूँ कि किताबें भी गयीं और पढ़ने वाली भी फिर नज़र नहीं आयेगी। भला गंगा से हड्डियां भी कभी वापस आती हैं! जब हर साल गुमशुदा किताबों और दोस्तों का अन्दाज़ लगाता हूँ तो उन की तादाद हर साल बढ़ती जाती है। हर पहली जनवरी को नया इरादा करता हूँ कि इस साल अक़्ल से काम लूंगा लेकिन होता ऐन इसके उलटे है।

•

समझ से न काम लेने की आदत ने इतना तंग किया है कि कभी-कभी ज़िन्दगी से बेज़ार हो जाता हूँ। आज मेहमान-नवाज़ी का दिन है। तरह-तरह के रसीले पकवान मेज़ पर रखे हुए हैं। इन्हें देख कर मुंह में लार तो आ जाती है पर उसे टपकने नहीं देता। यही एक अक़्लमन्दी का काम है; लेकिन जब खाने बैठता हूँ, सब नौजवान खूब खाते हैं। उस वक़्त मैं भी अपने को नौजवान महसूस करने लगता हूँ। भला मैं इनसे पीछे क्यों रह जाऊँ? अपने हाज़मे की ताक़त को भुलाकर उनका मुक़ाबला डटकर करना आदत की मजबूरी है, चाहे इस के परिणाम

चार दिन क्यों न भुगतने पड़ें मैं ने ख़ुराक़ पर बहुत-सी किताबें पढ़ रखी हैं और सेहत क़ायम रखने के लिए सब उसूलों से परिचित हूँ; लेकिन अक़्ल से काम लेने की आदत न हो तो क्या हो सकता है। जब मुझे अपनी आदत पर रंज होता है तो मैं सोचने लगता हूँ कि मैं ही आदत का शिकार हूँ; लेकिन यह जानकर मुझे तसल्ली होती है कि मेरे दोस्त और दुश्मन भी इसी आदत से मजबूर हैं। इनसान की यह फ़ितरत है कि वह दिल से काम लेता है, समझ का कम इस्तेमाल करता है। लेकिन अपनी अक्ल की शेख़ी बघारना एक बात है और उस से काम लेना दूसरी बात है। मुझे न तो शेख़ी बघारने की आदत है और न ही समझ से काम लेने की। यह जो कुछ मैं आप से कह रहा हूँ इस में कहाँ समझ से काम लिया है। अगर दिमाग़ से काम लेता तो पते की बातें कहता, लेकिन आदत से मज़बूर हूँ और इस के लिए आप से माफ़ी चाहता हूँ। यह जानता हूँ कि इतना वक़्त ज़ाया करने के लिए माफ़ करना अक़्लमन्दी नहीं है। अगर आपने मेरी बात को पढ़ा है तो आप ने ही कौन-सी समझ से काम लिया है।

बनने और बनाने पर

बनना तो सब को आता है, लेकिन बनाना विरला ही जानता है। यह इस लिए कि बनना अनायास होता है और बनाना सायास और सायास को कला की तरह साधना कठिन होता है। एक मोर जब मोरनी के सामने पंख फैला कर नाचने लगता है तो वह बनता है। सब पशु और पंछी, जिन में इनसान भी शामिल है, अपनी-अपनी तरह बनने की कोशिश करते हैं—कुछ सामने और कुछ छिप कर। गधा सामने और आदमी छिप कर। इनके ढंग भी अलग-अलग हैं। चिड़े को चूँ-चूँ करना पड़ता है और गधे को हिनहिनाना। चिड़ी के उड़ जाने पर चिड़ा मायूस हो कर शाख पर जा बैठता है। गधी उड़ना नहीं जानती, लेकिन टाँगें चलाना जानती है। एक बेचारा कौवा शायद बनना नहीं जानता। उसे चालाक तो कहा गया है, लेकिन उसकी चालाकी कहानियों में ही पढ़ने को मिलती है। वह बेचारा इस लिए है कि उस के पंखों का रंग काला है और रंग-भेद अभी इनसानों की रंगों में रचा हुआ है। उस के पंख चाहे मोर के पंखों से अधिक चमकते हैं, लेकिन उस की अवहेलना ही होती रही है। अगर बुलबुल की पूंछ लाल न होती तो उस की हालत कौवे से बेहतर न होती। बगुला बनना जानता है और उस के पंख भी सफ़ेद हैं। इस लिए उसे भगत कहा जाता है। इस की आड़ में वह कितनी ही मछलियों को हड़प कर जाता है और डकार तक नहीं लेता। कुछ साधु भी एक टाँग पर खड़े हो कर तप करते देखे गये हैं जो बनना और बनाना दोनों जानते हैं।

●

यहाँ पहुँच कर मुझे लगता है कि हैवान और इन्सान में अन्तर पड़ने लगता है, वह चाहे कितना ही सतही क्यों न हो; फ़ासला बढ़ने लगता है, वह चाहे कितना ही कम क्यों न हो। यह इस लिए कि पशु-पंछी केवल बनना जानते हैं, लेकिन आदमी ने बनाना भी सीख लिया है, बगुला अनायास एक टाँग पर खड़ा हो कर बनता है, साधु सायास इस तरह खड़ा हो कर दूसरों को बनाता भी है। इन बनने और बनाने वालों की अनेक जातियाँ हैं जिन में राजनीतिक नेताओं की एक है, सामाजिक दादाओं की दूसरी, कलाकारों की तीसरी, सेवक-सेविकाओं की

चौथी, चुनाव लड़ने वालों की पाँचवीं, दलालों की छठी जिसमें तरह-तरह की दलाली करनी होती है। आजकल नेतागीरी और दादागीरी का रोग इतना फैल गया है कि यह कलाकारों को भी लग गया है। संगीतकार स्वयं बनना अधिक जानता है, दूसरों को बनाना कम। इस के लिए कड़ी साधना करनी और करवानी पड़ती है—चिलम भरवाने से लेकर पाँव दबवाने तक। संगीतकार को बनाने में मुश्किल यह पड़ जाती है कि सीखकर इसे सब को सुनाना पड़ता है, लेकिन साहित्यकार को बनाने में इस का सामना नहीं करना पड़ता। मैं अनेक कवियों और कहानीकारों को जानता हूँ जिन को बनाया गया है। लेखकों को बनाने के बजाय लेखिकाओं को बनाने में अधिक रुचि पायी जाती है जो स्वाभाविक है। कवयित्री और कहानी-लेखिका को तो बनाया जा सकता है और इन की कृतियों को इन के नाम पर छपवाया भी जा सकता है। शायर पहले भी बनाये जाते थे, लेकिन केवल इसलाह देकर, लेकिन आज पूरी कविता या कहानी लिखी जाती है। अभी तक मौलिक उपन्यासकार नहीं बनाये गये, लेकिन एक भाषा से दूसरी भाषा के अवश्य बनाये गये हैं। अनुवाद शब्द या अनुवादक का नाम इनकी कृतियों पर ग़ायब होता है। शायद लघु-उपन्यासकार बनाना सम्भव हो सके। इसी तरह आलोचक बनाना तो कठिन है, लेकिन डॉक्टर बनाना आसान। एक बार ही किसी की थीसिस लिखनी पड़ती है, लेकिन इस स्थिति में मौखिक परीक्षा से उसे छूट दिलवाना आवश्यक हो जाता है। यह भी मेरे सुनने में आया है दो-चार विद्वानों ने इस का धंधा भी चला रखा है, लेकिन इन की रुचि जितनी व्यक्ति में नहीं उतनी धन में है। साहित्यकारों की रुचि तो व्यक्ति में होती है।

●

इस तरह लेखिकाओं को बनाया जाता है, लेकिन लेखक बनने के अपने-अपने तरीक़े हैं। हर लेखक के पास छोटी-बड़ी महँगी-सस्ती कापी होनी है। इस का आकार और रूप इस के स्तर के अनुसार होता है। छोटा लेखक इसे जेब में रखता है और बड़ा चमड़े के बैग में ताकि चलते-चलते मूड आने पर वह कविता-कहानी लिख सके। कहानी के लिए उसे लोगों की बातचीत को भी नोट करना होता है। और कविता के लिए आसमान के बदलते रंगों और परिवेश के बदलते रूपों को। यह इसलिए आवश्यक है कि संसार के महान साहित्यकार बाद में रचनाओं के लिए कापी और चमड़े का बैग रखते थे। आजकल अगर रेक्सीन के

बैग का रिवाज बढ़ता जा रहा है तो सृजन का स्तर इस के अनुरूप गिरता जा रहा है। अगर इस के स्तर को उठाना है तो इस के लिए आस्था-अनास्था आदि का शोर मचाना इतना आवश्यक नहीं है जितना चमड़े के बैग का प्रचार करना। इधर कुछ लेखकों ने कपड़े का थैला रखना शुरू कर दिया है। इसलिए इन की रचनाएँ लघु पत्रिकाओं में छपने लायक़ रह जाती हैं। एक बड़ा लेखक बनने के लिए पेन की जगह क़ीमती इंक-पेन का रखना इसलिए जरूरी है कि पेन की स्याही ऐन उस वक़्त जवाब दे सकती है जब सृजन की धारा अबाध गति से बहने लगती है। इस तरह रचना अधूरी रह जाती है। उस का नाम पहले से ही घोषित किया होता है, लेकिन उसे पूरा नहीं किया जाता। अगर इंक-पेन से लिखने की आदत डाली होती तो वह अधूरी न रह जाती। एक नया लेखक शुरू में हाथ से लिखता है, लेकिन बाद में उसे या तो लेखिका खोजनी पड़ती है या किसी को लेखिका बनाना पड़ता है या स्वयं टंकित करने की आदत डालनी पड़ती है। हर लेखक प्रायः अपना साहित्यिक जीवन कविता से शुरू करता है, लघु-पत्रिकाओं की मंज़िल को पार कर शिखर-पत्रिकाओं तक पहुँचने की कोशिश करता है। पहले लेखक बनने के लिए नये सन्दर्भों की खोज में भटकना पड़ता था, अमरनाथ से लेकर आखिरी चट्टान तक घूमना पड़ता था, रात को बारह बजे के बाद घरों के बन्द किवाड़ों पर कान धर कर कहानी के लिए कच्चे माल की तलाश करनी पड़ती थी, कारखानों में तेल की बदबू को सूँघना पड़ता था, कविता के लिए पहाड़ों की सैर करनी होती थी, यानी चलना-फिरना पड़ता था; लेकिन नये आयामों को खोलने के लिए इस की आवश्यकता नहीं रही। अब कहवा-घर या बियर-घर में बैठ कर ही नये आयामों को उघाड़ा जा सकता है। इसे ही बोध का बदलना कहते हैं। पिता के साथ बैठ कर अगर पी जाती है तो इस से जीवन का नया आयाम खुलता है या पिता-पुत्र में नया सम्बन्ध स्थापित होता है। अगर आयामों में सन्दर्भों की तरह कविता-कहानी में विविधता लानी हो तो बियर-घर में व्यक्ति डेढ़ इंच ऊपर उठ सकता है और ताड़ीखाने में डेढ़ फ़ुट ऊपर, लेकिन इंच-फ़ुट पुराने मानदण्ड हैं और आज मीटरों में उठना लाज़मी हो गया है। सृजन की बात भी पुरानी पड़ चुकी है। आज का साहित्यकार जो कुछ लिखता है उसे सृजन की कोटि में रखना होता है, ना कि सृजन के आधार पर उस की रचनाओं को आंकना। आज अकलात्मक तौर पर कहने में ही कलात्मक

को दिखाना है। अगर आलोचक इसे पूरे अंक नहीं देता तो दोष उस के बौद्धिक आलस्य का है। इस लिए आलोचक आधुनिक कृतियों में शारीरिक समीपता या नग्न चित्रण को उपलब्धि के रूप में पकड़ नहीं पाता। यह कहना कि लेखक झूठा है, इसलिए उस की कृति भी झूठी है, असंगत जान पड़ता है। कौन महान लेखक व्यक्तिगत जीवन में झूठ नहीं बोलता था! इसी तरह शुद्ध कविता और शुद्ध कथा-साहित्य में किसी तरह की मिलावट नहीं समा सकती। यह मिलावट चाहे पत्रकारिता हो या वाचालता। यह शुद्धता नवनीत की है या घी की—इस के बारे में राय देना कठिन है।

●

आज लेखक बनने के लिए अपने खतों की कापियाँ भी सँभाल कर रखनी होती है ताकि स्थापित होने पर ये काम में आ सकें। मेरे एक कवि मित्र हाथ से पत्र इस तरह लिखते हैं कि वह कविता लगती है। एक और कहानीकार मित्र लम्बे-लम्बे पत्रों को टंकित कर के भेजते हैं। इन में कुछ फ़िक़रों के नीचे लाल पेन्सिल से वह लकीरें भी मेरी सुविधा के लिए खींच देते हैं। इन का दावा है कि इन की रचनाओं को समझने के लिए यह आवश्यक है। अगर आज के लेखक की रचनाओं में बुझारतों को बूझा नहीं जाता तो दोष पाठक का है जो तेज़ी से बदलते युग में अपने बौद्धिक आलस्य के कारण पिछड़ जाता है और इशारों या पहेलियों को समझने में फिसल जाता है। इन का यह भी दावा है कि इन के पत्र इन की रचनाओं को खोलने के लिए कुंजियाँ हैं और मज़बूत तालों को खोलने के लिए लेखक की कुंजियाँ ही कारगर हो सकती हैं। इन पत्रों में साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को भी झलकाने की कोशिश करता है ताकि उस के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों पर आलोक डाल कर अपना अभिनन्दन करवा सके। इस तरह आज लेखक बनने और कभी बनाने के लिए नये साधनों को अपनाना पड़ता है।

अभिनन्दन पर[1]

एक साहित्यकार के नाते मेरा अभिनन्दन पंजाब सरकार शायद इस लिए कर रही है कि आज का युग अभिनन्दन और उद्घाटन का है—व्यक्ति का अभिनन्दन और वस्तु का उद्घाटन। मैं सरकार के भाषा-विभाग का इसलिए आभारी हूं कि वह मेरा उद्घाटन नहीं कर रहा है, वह मुझे वस्तु नहीं समझता है। एक व्यक्ति के नाते मुझे लग रहा है कि मेरा जलूस अवश्य निकाल रहा है, जब कि अब तक मैं दूसरों का जलूस देखता आया हूं। तमाशबीनी की आदत है, लेकिन आज खुद तमाशा बन गया हूं या बनाया गया हूं। घटना तो घट चुकी है, इसे लौटाया नहीं जा सकता। इसे लौटाने की क्षमता भगवान में भी नहीं है जिसे इतना शक्तिशाली समझा जाता है। इसे भोगने के सिवाय मेरे पास और चारा ही क्या है!

•

मैं सच कहता हूं कि मैं लेखक नहीं हूं और यह विनय-भाव से नहीं, अहंभाव से कह रहा हूं। अगर पंजाब सरकार को मेरे साहित्यकार होने का वहम हो गया है तो मैं इस का दोषी नहीं हूं। मैं ने कभी भी लेखक बनने का अपराध नहीं किया है। यह हो सकता है कि मेरा अभिनन्दन एक असफल लेखक के नाते किया गया हो। प्रेमचन्द ने ठीक ही कहा था कि असफल लेखक ही आलोचक बन जाता है। इस के साथ अगर यह जोड़ दिया जाये कि असफल व्यक्ति ही दूसरों की आलोचना और निन्दा करने लगता है तो अनुचित न होगा। मेरे लेखक न होने का यह भी कारण है कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूं— देखने में, रहन-सहन में, प्रतिभा में। लेखक असाधारण व्यक्ति होता है। इस के अतिरिक्त लेखक की तरह मैं ने घाट-घाट का पानी भी नहीं पिया है। केवल नलके का पानी पीने वाला लेखक नहीं बन सकता है। अपने मकान से बहुत कम निकलता हूं। इस तरह मेरा जीवन सीमित रहा है, अनुभूतियों से वंचित। अब तक केवल चार घटनाओं का आभास है—एक पैदा होने की, दूसरी खेल-कूद में गाल पर गुल्ली लगने की,

1. अभिनन्दन पर दिया गया जवाब (1 मार्च, 1964)

तीसरी स्कूटर से गिरने की और चौथी आज जो घटना हो रही है। और पांचवीं घटना जब घटेगी तब उस का मुझे एहसास नहीं होगा। इसलिए अनुभूतियों के बिना लिखना कैसे हो सकता था और लेखक किस तरह बन सकता था। मुझ में न तो लेखक के गुण है और न ही लक्षण। अगर आज लेखक बनाया गया हूँ तो एक बैरंग लेखक कहा जा सकता हूँ जिस पर भाषा विभाग ने सरकारी टिकिट चिपका दी है, लेकिन इस वहम को कब तक पाल सकता हूँ! मुझे आशा है कि सरकारी टिकिट के उतरने में अधिक समय नहीं लगेगा। इस पर गोंद कम हुआ करती है। जब तक यह टिकिट उतरती नहीं है तब तक मुझ पर अंगुलियां उठती रहेंगी कि मैं साहित्यकार हूं और यह साहित्यकार हो कर भी खुद सब्ज़ी खरीदता है, खुद हांडी पकाना और खुद खा जाना है, यह लेखक हो कर भी खुद फूल उगाता है और खुद इन को देखना और सूंघना रहता है। एक लेखक का असली काम तो लिखना और पढ़ना होता है। अब तो शायद आप को यह विश्वास हो गया होगा कि साहित्यकारों की पंक्ति में खड़ा होने का मेरा अधिकार नहीं है। मैं महामानव बनने के लिए अपनी मानवीयता को खोना नहीं चाहता हूँ।

●

अगर सौ नये पैसे सही कहा जाय तो मैं केवल एक पढ़ाने वाला व्यक्ति हूँ और पढ़ाने के लिए थोड़ा पढ़ना-सोचना भी पड़ा है। अपनी सोच को साफ़ करने के लिए कभी-कभी लिखने की भूल मैं ने अवश्य की है। यह इसलिए कि मेरी बात की कड़ी आलोचना हो सके। मतभेद से बात स्पष्ट हो सकती है, या उभर सकती है, या फिर गिर सकती है। मुझे गुड़ की मिठास से करेले की कड़वाहट अधिक पसन्द है। अब तक मेरी दृष्टि को कड़ी आलोचना के लायक़ नहीं समझा गया है, मेरी बात को पढ़ने योग्य नहीं माना गया है। मेरा जीवन मेरे छात्रों तक सीमित रहा है और वे मेरी कड़ी आलोचना करने से परहेज़ करते रहे हैं। मेरे छात्र ही मेरी ज़िन्दगी की सब से बड़ी दौलत हैं और यह चलने-फिरने वाली दौलत है; हर साल बदलती रही है। इनकी अक्ल और इनकी शक्ल मेरे रीतेपन को भरती और खाली करती रही है। किनकी अक्ल और किनकी शक्ल इस का अनुमान आप बेहतर लगा सकते हैं। इन को ही मैं अपना स्नेह देने की कोशिश करता रहा हूँ। इस तरह मेरा दायरा बहुत छोटा रहा है और मैं इस से असन्तुष्ट भी नहीं हूं। अगर मैं साहित्यकार समझा गया हूँ तो यह एक भ्रम है और भ्रम

को दूर करना मेरे बस का रोग नहीं है।

●

इस अवसर पर स्नेह की गोंद से लेखक होने की सरकारी टिकिट ही नहीं, सराहना की स्याही से मोहर भी आप के सामने लग चुकी है। सब के स्नेह और सराहना का आभारी हूँ। स्नेह में सराहना तो अवश्य रहती है, लेकिन कभी-कभी सराहना में भी स्नेह होता है। लेकिन उन सब से मेरी सहानुभूति है जिन को मेरी यह सराहना अखर रही हो। इस में मेरा न दोष है और न ही परिश्रम। आप शायद मुझ से पते की बात सुनने की आशा लगाये बैठे हों, लेकिन मैं वह पहुंचा व्यक्ति नहीं हूँ जो सन्देश देने का अधिकारी होता है। मैं तो स्वयं एक भटक रहा इनसान हूं जो किसी राह का खोजी भी नहीं रहा, जिसे किसी मंज़िल पर पहुंचने की आशा भी नहीं है। मुझे तो लगता है मानव की नियति अभिशप्त है और हर नये सन्देश ने उसे धोखा दिया है। एक ने कहा कि मानव की यह अन्तिम साधना है और इस के बाद वह अतिमानव या सुपरमैन बन जायेगा। यह नहीं हुआ। एक और ने कहा कि शोषित का यह आखिरी युद्ध है और इस के बाद शोषण का अन्त हो जायेगा। उस का भी अन्त नहीं हुआ। एक और ने विश्वास दिलाया कि भारत में स्वाधीनता के बाद रामराज्य की स्थापना हो जायेगी। वह भी अभी आंखों से ओझल है। आज पुराने सपने टूट रहे हैं, विश्वास गिर रहे हैं। मेरे पास तो प्रश्न ही प्रश्न हैं, इन के उत्तर नहीं। आप उत्तर चाहते हैं, समाधान चाहते हैं, असमंजस की स्थिति से निकलना चाहते हैं। मैं स्वयं इस स्थिति में पड़ा हुआ हूं। मुझे तो यह भी सन्देह है कि सत्य को पाया भी जा सकता है या नहीं। पुराने सत्य को खोया अवश्य है। अगर किसी ने इसे पा लिया है तो मैं उस को मुबारकबाद देता हूं! यह ठीक है कि असमंजस की स्थिति का जीना बड़ा कठोर होता है, इसका सामना करना बड़ा कठिन होता है। किया क्या जाय? आज स्थिति भी गति हो रही है और यह पकड़ में नहीं आ रही है। इस लिए मेरे पास कहने को कुछ नहीं है, भुलावे में डालने के लिए कोई सन्देश नहीं है। झूठ बोलने से भी थोड़ा परहेज़ करता हूं। उपदेश सुनने और सन्देश देने से चिढ़ है।

●

अब तो आप को विश्वास हो गया होगा कि मुझ में लेखक का एक भी गुण

नहीं है। यह और बात है कि क़द जितना छोटा पाया है, दिल उतना ही बड़ा। मेरे मित्रों ने आपस में साज़िश करके आज मेरा तमाशा देखना चाहा है। इस लिए इन के चेहरों पर अपराध की रेखाएँ हैं, इन की आँखों में शरारती मुसकराहट है। इन सब का नाम लेना मित्रघात करना होगा। अब होनी तो हो चुकी है। इस लिए इस के परिणाम को स्वीकारना है। इस साज़िश में किस सव्यसाची का हाथ है उस का नाम लिये बिना नहीं रह सकता। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने अपराध को सहज भाव से स्वीकार भी कर लिया है। इसलिए सब की स्नेह-सराहना का ऋण चुकाने के लिए यह थैली, जो मुझे भेंट में मिली है, सव्यसाची को सौंपना चाहता हूँ, ताकि यह हिन्दी के काम आ सके। हिन्दी के लिए पहले जब साधन नहीं थे तब साधना थी, लेकिन आज जब साधन हैं तो साधना रूठ रही है। अन्त में मेरी एक छोटी-सी चाह भी है। इस अवसर की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए खाली थैली मुझे लौटा दी जाये। और खालीपन से मेरा सदा मोह भी रहा है।

अभिनन्दन के बाद

अभिनन्दन के बाद की बात वही कर सकता है जिस के साथ यह बीत चुका हो। पंजाब सरकार ने एक साहित्यकार के रूप में जब से मेरा अभिनन्दन किया है तब से मित्र-अमित्रों ने मेरा उद्घाटन करना शुरू कर दिया है। मेरा अनुमान था कि इस घटना के बाद धूल बैठ जायेगी, शोर बन्द हो जायेगा और मैं बोरियत की शान्त ज़िन्दगी फिर से बसर करना शुरू कर दूँगा। बोरियत मुझे इतना परेशान नहीं करती जितना यह मेरे मित्रों और अमित्रों को जो मुझ से अधिक संवेदनशील है। इन दिनों इन की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। मेरे मित्रों ने मुझे इस तरह खिलाना-पिलाना शुरू कर दिया है जैसे मैंने एक अरसे से अनशन कर रखा हो, मेरे गुणों का इस तरह बखान करना शुरू कर दिया है जैसे मुझ में इस के पहले एक भी गुण नहीं था और इस अवसर ने ही इन को उघाड़ा हो। एक ने कहा कि अभिनन्दन पर वक्तव्य एक ऐतिहासिक घटना थी, दूसरे का कहना है वह दिन हिन्दी का था, तीसरे का कथन है कि मैं ने जो कहा उसे कर के दिखा दिया और पुरस्कार हिन्दी के लिए दान कर दिया। मेरा एक छात्र मेरी ज़िन्दगी की पाँचवीं घटना या मौत के बारे में सुन कर दहशत में आ गया। उसे डर लगा कि मैं कहीं मंच पर ही न गिर पड़ूँ। इस तरह की स्नेह-सराहना से जब मैं अपच का शिकार होने वाला था तो मेरे अमित्रों ने मुझे हाज़मे की गोलियाँ देनी शुरू कर दीं। एक को कहते सुना कि मैं ने एक मदारी का खेल किया है; दूसरे का मत है कि मैं ने एक एकाकी का अभिनय किया है; तीसरे की राय है कि मैं ने अपने वक्तव्य में सच ही तो बोला है कि मैं लेखक नहीं हूँ, और चौथे का विचार है कि यह सब स्टण्ट था। इनके अनुसार पंजाब सरकार ने मेरा अभिनन्दन करने में भूल की है, मुझे पुरस्कार दे कर ग़लती की है। मुझे मदारी या अभिनेता इसलिए कहा गया है कि भरी सभा में थैली सौंप कर बाद में वापस ले ली है। इस तरह राम और माया दोनों को सिद्ध कर लिया है और तालियाँ मुफ्त में पिटवा ली हैं। इस तरह की गोलियों से हर किसी की अपच दूर हो जाती है और मन स्वस्थ एवं सन्तुलित हो जाता है। लेकिन मेरा यह सन्देह भी पुष्ट हो

जाता है कि सत्य को पाया भी जा सकता या नहीं।

●

सराहना और निन्दा का कारण जब मेरी समझ से बाहर हो जाता है तब मैं पत्री उठा कर अपने ज्योतिषी के पास चला जाता हूं। यह इसलिए कि जहां साधारण मनोविज्ञान असफल सिद्ध होता है वहां असाधारण ज्योतिष काम आता है। मनोविज्ञान में केवल विज्ञान है जो ससीम है, और ज्योतिष में दैवी चमत्कार होता है जो असीम है। मेरी पत्री के अनुसार मेरा यह मान-अपमान शनि तथा मंगल के योग का फल है जो इन दिनों एक-दूसरे को आमने-सामने देख रहे हैं। शनि की चाल भी धीमी होती है। इसलिए इस का असर देर तक चलता है। अगर इस मान-अपमान से मैं ने छुटकारा पाना है, स्नेह-सराहना की अपच से मुक्ति पानी है, तो मुझे अनुष्ठान करना होगा। इस में चार सौ की लागत और एक महीना पूजा करनी पड़ेगी। इतना करने पर भी शनि और मंगल के योग का बल कम तो हो जायेगा लेकिन बिलकुल नहीं जायेगा। यह बात सुन कर मुझे चांद की याद आ जाती है जिस में कलंक है और फिर भी वह राहु-केतु का शिकार हो जाता है। इस तरह मेरी नियति इन दिनों मंगल-शनि के योग से ग्रस्त है। अपने बारे में बेपर की सुन रहा हूं, बेताब की पढ़ रहा हूं। इस की आदत तो मैं ने पहले से ही डाल रखी है।

●

आज पहली बार मेरे सुनने और पढ़ने में आया है कि मुझे प्रेमचन्द पर डाक्टर की उपाधि मिली है। इस से मेरी जानकारी बढ़ी है और मेरे सीमित ज्ञान में विस्तार हुआ है। मेरी डाक्टरी पर प्रश्न-चिह्न लगाने की नौबत अभी नहीं पहुंची है, इसे कम्पाउण्डरी अवश्य कहा गया है। मुझे पहली बार पता चला है कि मैं एक निडर व्यक्ति हूं, जब कि अब तक मैं बड़ों से डरता और उन की खुशामद करता आया हूं, लेकिन अपने से छोटों को मैं ने कभी डराया नहीं है। आज पहली बार मेरे नाम के साथ बड़े-बड़े विशेषण जोड़े गये हैं—महामना, आदरणीय, माननीय आदि, जब कि महान बनने या आदर पाने की मेरी चाह तक नहीं है। मुझे साहित्य-शिरोमणि की पदवी से भी विभूषित किया गया है। प्रेमचन्द को जब उपन्यास-सम्राट् कहा जाता था तो मेरी समझ में नहीं आता था कि उपन्यासकार और सम्राट् में क्या सम्बन्ध हो सकता है। यह शायद इस लिए

कि भारतीय आलोचक या निन्दक के शब्द-भण्डार का बन्द दरवाज़ा जब एक बार खुल जाता है तो वह बन्द होने में नहीं आता। वह खुल कर मान-अपमान करने लगता है। इस के अतिरिक्त हिन्दी कोश में शायद विशेषणों की भी भरमार है। इस तरह की अतिशयोक्ति में स्वभावोक्ति है, परम्परा का भी हाथ है। यह सुनने में आया है कि महाभारत में सैनिकों की तादाद अठारह करोड़ थी और इन का नाश अठारह दिनों में सम्पन्न हुआ। उस युग में भारत की कुल कितनी आबादी होगी यह तो विज्ञान का विषय है। विज्ञान में केवल तथ्य होता है, जब कि काव्य में सत्य। इस तरह मेरे बारे में जो कौरवों तथा पाण्डवों की ओर से कहा गया है वह काव्य-सत्य के ही अधिक निकट है। इस में कवि का न्याय है, जज का इन्साफ़ नहीं।

•

इस अभिनन्दन का मुझे बड़ा लाभ भी हुआ है। मुझे बहुत-सी अपनी तसवीरें खुद खिचवानी पड़ी हैं। और बहुत-सी इस लिए कि मेरी सरकार को मेरी फ़ोटो पसन्द नहीं आ रही थी। इस में दोष तो मेरी सूरत एवं आयु का था, सरकार या छायाकार का नहीं। एक चित्र इस लिए ठीक नहीं है कि चेहरे पर झुर्रियां नज़र आती हैं और इन्हें मिटाना छायाकार का काम है, दूसरा इस लिए नापसन्द कि इस में गरदन और चेहरा एक हो गये हैं और इन्हें अलग-अलग दिखाना भी उसी का काम है। तीसरे चित्र में त्रुटि यह है कि ओठों पर मुसकान नहीं है और इसे लाना भी उसी के वश में है। और चौथे में दोष यह है कि आंखों में रोशनी नहीं है और इसे लाना भी छायाकार के अधिकार में है। एक स्टूडियो से दूसरे में इस तरह भटकना पड़ा जैसे कि मुझे अपना चित्र किसी प्रेयसी को भेजना है और इस के आधार पर मेरी किस्मत का फ़ैसला होना है। अब मेरे पास भले-बुरे चित्रों का पूरा अलबम है जो मेरे मेहमानों के जी को तब तक बहला सकती है जब तक इन का खाना तैयार नहीं हो जाता। इन के मनोरंजन के लिए एक टेप भी है जिस में मेरा वक्तव्य सुरक्षित है। पहली बार जब मैं ने इसे सुना तो मुझे लगा कि मैं ने लिखा कुछ है और बोला कुछ और। महादेवी की ये पंक्तियां याद आने लगीं—

मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूं कुछ, कुछ लिख पाती।

मैं तो उस समय बेसुधपन की स्थिति में नहीं था, पूरे होश में था। जब टेप को दोबारा लगाया और अपनी लिखित कापी से उसे मिलाया तो अक्षर-अक्षर वही था। इन दोनों में अन्तर केवल इतना था कि लिखित में तालियों की गूंज नहीं थी। इन की ध्वनि ने दोनों में इतना अन्तर ला दिया। अब ध्वनि-सिद्धान्त, ध्वनि-नाटक, ध्वनि-काव्य में मेरा विश्वास गहरा हो गया है। मुझे आशा होने लगी है हिन्दी कहानी भी एक दिन अकहानी बने या न बने, ध्वनि-कहानी अवश्य बन जायेगी। इस टेप को सुन-सुन और सुना-सुना कर अब जी उकता गया है। आने-जाने वाला परिचित-अपरिचित जब इसे सुनने की फ़रमायश करता है तो मैं उस गाने वाली की तरह महसूस करने लगता हूं जिस से बार-बार एक ही दादरा गाने के लिए अनुरोध किया जाये, या उस कवि की तरह अनुभव करने लगता हूं जिसे एक ही कविता का अनेक बार पाठ करने को विवश किया जाये। अपनी ओर से कहना तो शुरू कर दिया है—"यह टेप रेडियो के संग्रहालय में चला गया है जहां बड़े-बड़े व्यक्तियों की आवाज़ें सुरक्षित रहती हैं।" लेकिन लोग कब मानते हैं कि गाने वाली का गला ख़राब है या कवि की याददाश्त कमज़ोर है।

●

मेरा अभिनन्दन और इस के बाद मेरा उद्‌घाटन मेरी ज़िन्दगी में हर सौदे की तरह घाटे का ही सिद्ध हुआ है। मुझे लगता है कि हर घटना व्यक्ति को अधिक अकेला छोड़ जाती है, हर स्थिति उसे अधिक भ्रान्तियों का शिकार बना जाती है, हर पुरस्कार उसे अधिक रीता कर जाता है। आम लोगों की धारणा रूढ़ हो चुकी है कि मैं ने हिन्दी के लिए थैली दान की है। एक तो दान किसी छोटे को दिया जाता है और हिन्दी मुझ से कहीं बड़ी है, और दूसरे मैं ने यह त्याग-भाव से नहीं सहज-भाव से किया है। इस लिए कि त्याग में मेरा विश्वास नहीं है और इस का मुझ में अभाव भी है। लेकिन भ्रान्तियों को दूर करना किसी के बस का रोग नहीं होता।

●

अभिनन्दन के बाद मुझे अनेक सलाहकारों से भी पाला पड़ा है जो अपनी-अपनी सलाह से मेरा विकास करना चाहते हैं। एक की धारणा है कि मुझ में ललित-निबन्ध रचने की प्रतिभा है, जब कि जीवन-भर मैं ने एक भी ललित काम नहीं किया है। एक और का विचार है कि मुझ में कहानी लिखने की क्षमता है

और वह मुझे कहानीकारों के छत्ते में फेंकना चाहता है। इस स्थिति में एक बात सन्तोष की भी है कि किसी ने मुझे कविता करने की सलाह नहीं दी है, हालांकि हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाला हर व्यक्ति अपना साहित्यिक जीवन कविता से शुरू करता आया है। इस का अन्त वह पहले महाकाव्य में करता था, लेकिन आज वह नाटक-काव्य में करने लगा है। महान कवि कहलाने के लिए पहले महाकाव्य कसौटी था, छोटी-छोटी कविताओं से महान की पंक्ति में खड़ा होना सम्भव नहीं था। आज का युग-बोध महाकाव्य की रचना के अनुकूल नहीं समझा जाता है। इस लिए महाकवि की पदवी पाने के लिए नाटक-काव्य की रचना होने लगी है। मुझे शक होने लगा है कि मेरे सलाहकार मुझे आलोचना से भी वंचित करना चाहते हैं। इन को शायद यह मालूम नहीं है कि दोस्तों के मजबूर करने पर मैं चुनाव लड़ने वाला व्यक्ति नहीं हूं। अगर कहानी आदि के चक्कर में पड़ कर मैं ने एक बार भी आलोचना से नाता तोड़ दिया तो वह सदा के लिए रूठ जायेगी और मुझे जीने के लिए किसी नये वहम को पालना पड़ेगा। क्या हम सब वहमों के बल पर नहीं जीते है ?

हास्य और व्यंग्य

अपनी मौज में आकर या कभी-कभार बैठे-ठाले समय बिताने के लिए व्यंग्य-विनोद लिखना कुछ और बात है; लेकिन इसे पेशा बना लेना बिलकुल दूसरी। थोड़े लेख क्या लिख डाले हैं अपने लिए मुसीबत खड़ी कर ली है। आलोचकों ने मेरे लेखों को ललित निबन्धों की कोटि में चढ़ा दिया है और सम्पादकों ने मेरा नाम हास्य-व्यंग्य लेखकों की गिनती में दर्ज कर दिया है जिस का नतीजा भुगत रहा हूं। खतरा यह है कि यह कहीं पेशा न बन जाये और मुझे कहीं निबन्धकार न मान लिया जाये। यह जानता हूं कि दो-चार कहानियां लिख कर कहानीकार तो बन जाता है और आठ-दस कविताओं से कवियों में शुमार भी हो सकता है, लेकिन जब यह पेशा बन जाता है तो रचना अपने स्तर से गिरने लगती है।

व्यंग्य-विनोद का पेशा पुराने काल से चला आ रहा है। राजा दुष्यन्त के पास विदूषक था, अकबर महान के दरबार में बीरबल था। छोटे-बड़े की बैठकों में मिरासी हुआ करते थे जो अपने चुटकलों से इन का जी बहलाया करते थे। कवियों से भी मनोरंजन का काम लिया जाता था। अब भी इन का महत्त्व कम नहीं हुआ है। आज भी मिरासी की तरह हर मज़ेदार चुटकला उस के नाम से जोड़ा जाता है या उस का नाम ले कर सुनाया जाता है। इस का नाम तीर हो या तुक्का लेकिन इस में न तो पुराने मिरासी के तीर की तेज़ नोक होती है और न ही तुक्के की तुक। पुराने और नये में यही तो अन्तर होता है। आज कवियों के अलावा कहानीकारों ने भी मनोरंजन का काम शुरू कर दिया है। इन मनोरंजकों की क़तार रात-दिन लम्बी होती जा रही है। यह नहीं जानता था कि मुझे भी एक दिन इस क़तार में खड़ा कर दिया जायेगा। लेकिन आस-पास जब देखता हूं तो इस पंक्ति में नामी हस्तियों को पा कर मन को थोड़ा सन्तोष भी मिलता है। इन में मेरा शामिल होना एक अछूत का द्विज समाज में पहुंच जाना है।

इस कुलीन समाज में हर तरह का मिरासी है। एक चुटकलों का माहिर है तो दूसरा कहानियों का, एक ने व्यंग्य-बाण अपने तरकस में जमा कर रखे हैं तो दूसरे ने रंग-बिरंगे गोले अपने झोले में छिपा रखे हैं, एक बालकों का मनोरंजन

कर सकता है तो दूसरा बूढ़ों का, एक ने समाज-सुधार का ठेका ले रखा है तो दूसरे ने नारी के उद्धार का, एक लड़के-लड़कियों की चुस्त पोशाक से दुःखी है तो दूसरा धोती-लँगोटी से, एक को आधुनिकता परेशान करती है तो दूसरे को मध्य-कालीनता। अकबर इलाहाबादी को जिस तरह पछमी सभ्यता हैरान करती थी आज के कवि को उसी तरह भारतीय संस्कृति या परम्परा। अकबर का शौक़:

ऐसा शौक़ न करना 'अकबर', गोरे को न बनाना साला
भाई रंग यही अच्छा है, हम भी काले यार भी काला।

और इसी अन्दाज़ में :

रकीबों ने रपट लिखवायी है जा-जा के थाने में,
कि 'अकबर' नाम लेता है खुदा का इस ज़माने में।

और इस के विपरीत आज के कवि कैलाश वाजपेयी का स्वर :

मैं लज्जित हूं।
क्यों कि प्यार से बड़ा झूठ
अब तक बोला नहीं गया
आंसू से ज़्यादा अच्छा नाटक
खेला ही नहीं गया
ईश्वर-सा खोखला शब्द
दोबारा उगला नहीं गया।

इसी तरह प्रेमचन्द और यशपाल के तीखे व्यंग्य-बाण उन सामाजिक विषमताओं और खोखली मान्यताओं पर छोड़े गये हैं जो सुधार-उद्धार के पथ में बाधक बन कर आती हैं। यह काम शॉ ने बड़े पैमाने पर अपने नाटकों में किया है। हरिशंकर परसाई भी इसे छोटे दायरे में निभा लेते हैं। जैनेन्द्र ने मदारी की तरह रंग-बिरंगे गोले अपने झोले में छिपा रखे हैं। इस तरह व्यंग्य कसना या दूसरों का उपहास करना शॉ-जैसे बड़े साहित्यकारों को ही शोभा दे सकता है, जिन का अहं गुब्बारे की तरह फूला हुआ हो। शॉ को एक बार किसी विश्व-सुन्दरी ने विवाह का प्रस्ताव इस लिए भेजा कि इन की भावी सन्तान में शॉ की बुद्धि और उस की सुन्दरता का अनूठा मेल होगा। वह ही इस का यह जवाब दे सकते थे कि विधि के विधान से यदि विश्व-सुन्दरी की बुद्धि और शॉ की सूरत का मेल हो गया तो कैसा रहेगा। इस तरह की चोट करना मेरे बस का रोग नहीं है। दूसरों

का मज़ाक़ उड़ाना या नशा पिला कर दूसरों को गिराना तो सब को आता है, लेकिन इकबाल साक़ी से गिरतों को थाम लेने की बात करते हैं जो मेरे मन को भाती है। इस लिए व्यंग्य से हास्य बेहतर जान पड़ता है। इस में अपना मज़ाक उड़ाना होता है।

इस तरह के साहित्यिक मिरासी का रोल अदा करना कठिन अवश्य है; लेकिन इस से इस की ज़ात का अनुमान लगाया जा सकता है। असली मिरासी मोटी चुटकियां लेता है, दुःखद स्थिति को सुखद में बदलने की क्षमता रखता है, बड़ी से बड़ी परेशानी को मुसकान में बदल सकता है, बड़े से बड़े दुख को झेलने की ताक़त दे सकता है। मुझे पूस की रात का किसान याद आ रहा है। अपने खेत को जब सुबह वह चरा हुआ पाता है तो विषम परिस्थिति को वह यह कह कर परिहास में बदल देता है—'रात को ठण्ड में यहां सोना तो नहीं पड़ेगा।' इसी तरह भारती के 'अन्धा-युग' के प्रहरी भी युद्ध की भयंकर स्थिति को परिहास में बदल देते हैं। एक प्रहरी का यह कहना—'सूने गलियारे में हम सदा निरुद्देश्य चलते रहे, दायें से बायें और बायें से दायें'—बड़े दुःख की बात है; लेकिन दूसरे प्रहरी का जवाब इस दुःख को यह कह कर उड़ा देता है—'मरने के बाद भी यम के गलियारे में सदा चलते रहेंगे, दायें से बायें और बायें से दायें'—शेक्सपियर के नाटकों में भी इस तरह की मीठी चुटकियां ऐन निशाने पर बैठती हैं। मेरी बात निशाने से अक्सर चूक जाती है। इसलिए मेरा यह कहना है कि साहित्यिक मिरासी का रोल अदा करना बड़ा मुश्किल है। एक बार जब मैं एक छोटा-सा चुनाव हार गया तो मेरे मित्र जिन्हों ने मुझे वोट नहीं दिया था मातमपुरसी के लिए मेरे यहां शाम को आ पहुँचे। इन के मुँह लटके हुए थे। मैं ने डूबते सूरज को देख कर इतना ही कहा कि इस की आभा चढ़ते सूरज की कान्ति से क्या कम है। इन के मुंह इसी तरह लटके रहे और यह कह कर मुझे बड़ा खेद हुआ।

इन हास्यकारों और व्यंग्यकारों या साहित्यिक मिरासियों की अपनी-अपनी जातियां हैं। मुझे बताया गया है कि भारत में मेहतरों की दस हज़ार से अधिक जातियां हैं। यह सही हो या ग़लत, लेकिन मिरासियों के बारे में यह ठीक जान पड़ता है। हर छोटी-बड़ी भाषा या लोक-भाषा का अपना-अपना मिरासी होता है। उस की आवाज़ में निजता होती है। उस के मुहावरे में अपनापन होता है, उस के लहजे में विशेषता होती है। इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस

धरती पर साहित्यिक मिरासियों की कितनी जातियाँ हो सकती हैं ! इन मे छोटी जात के भी हैं और बड़ी के भी, इन में नफ़ासत भी होती है और भोंडापन भी। विदूषक में भोंडापन है और बीरबल में नफ़ासत। उर्दू के मिरासी में नफ़ासत है और…। इस वाक्य को पूरा करने से घबराता और डरता हूँ। मेरी घबराहट और डर हर घबराहट और डर की तरह सहज है। मैं बात अपनी कर रहा हूँ और लोग इसे अपने पर थोप कर मुझे भली-बुरी कहने पर उतर आयेंगे। अब कहने के बजाय सुनने की आदत धीरे-धीरे डाल रहा हूँ। यह इस लिए कि मेरी नजर में सब से बड़ा मिरासी या ममखरा चार्ली चैपलेन है और वह हमेशा दुनिया पर हँसने के बजाय खुद पर हँसता रहा है, दूसरों को कहने के बजाय उन की सुनता रहा है। उस की हर लटक मन को अधिक भाती रही है। बड़ों की तरह वह न तो दूसरों को सन्देश या उपदेश देता रहा है और न ही इन का मज़ाक़ उड़ाता रहा है। एक तमाशबीन की तरह सब कुछ देखता रहा है और अपना उपहास करता रहा है। वह पहुंचा हुआ व्यक्ति भी नहीं है। एक मिरासी की तरह मैं भी एक पहुंचा हुआ व्यक्ति नहीं हूँ जो दूसरों को सन्देश दे सकता है या इन का मज़ाक़ उड़ा सकता है। इस लिए मेरा नाम उस बही में चढ़ गया है जिस में उन मिरासियों की सूची है जिन को लोगों का जी बहलाने के लिए या इन की बोरियत को कम करने के लिए गाहे-बगाहे पैग़ाम भेजा जाता है या आदेश दिया जाता है और जिस का पालन उन्हें कभी-कभी करना ही पड़ता है।

आपका प्रशंसक

आज टूटते हुए मानव-सम्बन्धों और बिखरते हुए परिवार के युग में किसी को 'आपका' कहना या लिखना भी बड़ा अजब लगता है। यह उतना ही बेकार लगता है जितना पुराना वस्त्र जो या तो छोटा हो चुका है या बूढ़ा। इस लिए शायद सरकारी पत्रों या निवेदन-पत्रों में इसे लिखा जाने लगा है; लेकिन लड़कियां आज भी किसी को आप का लिखने से परहेज़ करती हैं ताकि कहीं ग़लतफ़हमी पैदा न हो जाये। अपने पुराने संस्कारों के कारण, वे माँ-बाप तक को प्रिय कहकर सम्बोधित करने से कतराती हैं और पत्रों में 'पूजनीय' की अभ्यस्त हैं। और किसी को प्रिय कह कर पुकारना या पत्र के अन्त में किसी को आप का लिखना अब भी एक पुरानी पंक्ति को याद दिला सकता है—'ठुकरा दो या प्यार करो।' यह कौन नहीं जानता कि शकुन्तला का युग बीत चुका है जब दुष्यन्त उसे ठुकरा सकता है। आज तलाक़ देना तो सम्भव है, लेकिन ठुकराना नहीं। और प्यार की बात करना तो बड़े साहस का काम है। इस तरह यह पंक्ति तो मर चुकी है, लेकिन पुराना संस्कार अभी जीवित है। एक जमाना था जब एक बार किसी पर या किसी के लिए मरना होता था तो सारी ज़िन्दगी मर-मर कर जीना होता था, एक बार किसी का दास बन गये तो जीवन भर उस की दासता में बीत जाता था। यह सम्बन्ध तब तक चलता था जब तक स्वामी अपने दास को बेच नहीं डालता था या भगवान अपनी कृपा-दृष्टि भक्त से उठा नहीं लेता था। आज पुराने रिश्ते तार-तार हो चुके हैं; लेकिन संस्कारबद्ध ही कभी-कभी तार-तार कपड़े को सी लेता है।

अगर किसी को वास्तव में 'आपका' कहना इतना कठिन हो रहा है तो किसी का प्रशंसक बनना कितना किठन हो सकता है इस का अनुमान ही लगाया जा सकता है। इसलिए मैं किसी का प्रशंसक नहीं बन पाया हूँ और अकेला रह गया हूँ। और न ही मैं ने किसी को अपना प्रशंसक ही बनने दिया है। देर तक किसी की तारीफ़ करते रहना या अपनी सुनते रहना अखरने लगता है। पहले मैं भी सोचता था कि स्नेह में सराहना तो अवश्य होती है और कभी-कभी सराहना में भी

स्नेह होता है। यह सपना भी टूट चुका है। इस तरह बार-बार पुराने सपनों का टूटना और नयों का बनना होता आ रहा है। जवानी के आलम में महबूब आँखों में बसता है, अधेड़ होते वह आँखों के बाहर बसने लगता है और बुढ़ापे में आकर वह दिखने से भी रह जाता है। किसी को ठुकराने की ताक़त नहीं रह जाती और न ही किसी से स्नेह करने की शक्ति। इस लिए 'आपका' और 'आपका प्रशंसक' दोनों आज के मानवीय सम्बन्धों में सारहीन हो चुके हैं। इस तरह न तो जी भर कर निन्दा की जा सकती है और न ही प्रशंसा; न ही घृणा और न ही स्नेह। सभी मानवीय सम्बन्ध सतही और उथले होते जा रहे हैं। न तो निन्दक दिल खोल कर अपने शत्रु पर बरसता है और न ही प्रशंसक अपने मित्रों के गुणों का बखान करता है। सब कुछ दबी आवाज़ में होता है, चारों ओर कानाफूसी और चुगली चलती है। खुल कर बात करने की रीति ही उठ गयी है। इसलिए आज राजा राम का न तो वाल्मीकि देखने को मिलता है और न ही भगवान राम का तुलसी। आज तो पृथ्वीराज का चन्द भी ग़ायब हो गया है। मैं भी आज आप का प्रशंसक नहीं हूं, अपनी डफली बजाता हूँ। अगर मैं किसी की प्रशंसा करता हूँ तो अपनी उन्नति के लिए या अपने अहं की तुष्टि के लिए। मेरे अहं को चिरकाल से इतना दबाया गया है कि आज यह गुब्बारे की तरह फूल गया है। इस तरह फूलने के सिवा इस के पास और चारा ही क्या है; इस के बिना जीना भी किस तरह हो सकता है! अगर मैं आप की तारीफ़ करता हूं तो कलात्मक रूप में, ताकि आप को इस का एहसास तक न हो। मेरी तारीफ़ भी जब की जाती है तो यह कह कर कि मुझे तारीफ़ से नफ़रत है।

इस तरह अभिनन्दन के इस युग में अपनी तारीफ़ करवाना आवश्यक हो गया है। इस की पद्धति भी बदल गयी है। आम तौर पर अभिनन्दन तब होता है जब प्रतिभा चुक जाती है, जब साहित्यकार कुछ और कहने से रह जाता है—उस सैनिक के समान जो अपने कोट पर तगमे ही लटका सकता है। पाठक भी उस की रचनाओं को बिना पढ़े उस का प्रशंसक बन जाता है। इसी तरह पति भी बढ़िया पकवानों को चखने के लिए अपनी पत्नी के गुणों को 'ठहराव' में पहचानने लगता है, उस्ताद भी मेहनत से बचने के लिए अपने स्टूडेण्ट्स की अक़्ल को जानने लगता है और छात्र भी अधिक अंक पाने के लिए पढ़ाने वाले को विद्वान कहने लगता है। जानना, पहचानना, बनना और कहना एक तरफ़ और मानना दूसरी तरफ़।

इसलिए किसी की प्रशंसा करना अब खुशामद या चापलूसी में बदलने लगा है। ठुकरा दो या प्यार करो की बात या तो आशिक़ कर सकता है या भक्त। तुलसी ही राममय हो कर लिख सकते थे या सूर कृष्णमय हो कर। आज का 'भारती' किस तरह कृष्णमय हो सकता है; वह तो कृष्ण को खरी-खरी सुना सकता है। आज का कवि स्नेह को सहवास कहने लग गया है। कहाँ है वह पन्त की नारी जिस के छूने मात्र से कवि को पावन गंगा-स्नान की अनुभूति हो जाती थी? कहाँ है वह आँसू की बालिका जिस की अमिट छाप धुलने में नहीं आती? पुरानी स्याही भी कहाँ धुलती थी? फटने तक उस का दाग़ नहीं मिटता था। लेकिन आज स्याही वह है जो पड़ते ही उड़ जाती है, तारीफ़ वह है जो कहते ही मिट जाती है।

अगर मैं आप प्रशंसक नहीं बन सका हूँ तो दोष मेरा है; लेकिन इस के कारण भी अनेक हैं। मैं ने यह पाया है कि तारीफ़ करने की इतनी क़दर नहीं रही जितनी गाली देने की, गुणों का बखान इतना महत्त्व नहीं रखता जितना छिद्रान्वेषण, स्नेह में इतनी शक्ति नहीं रही जितनी उपेक्षा में। चारों ओर यह आवाज़ उठ रही है कि पुराने छन्द का भंग हो गया है, लय टूट चुकी है, स्वर विषम हो गया है, सन्तु-लन खो गया है, युग-बोध बदल गया है। इस नक्कार-खाने में मेरी तूती की आवाज़ में कितना बल हो सकता है! मुझे भी धारा के साथ बहना है। इस में अधिक सुख है। कब तक मजनूँ लैला को अपनी गोद में ले कर बैठा रहे? कब तक मैं आप का प्रशंसक बना रहूँ? कब तक ठुकराया जाता रहूँ? मैं अपने पाठक को सजग कहता आया हूँ, उस की तारीफ़ के पुल बाँधता रहा हूँ; लेकिन वह मेरा बनने से इनकार करता रहा है। साल-भर में मेरी सब से बढ़िया किताब की, जिस का नाम लेना बेकार है, कुल बीस कापियाँ बिकती हैं। मैं नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार कर उस की प्रशंसा करता आया हूँ, लेकिन वह मेरा बनने से इस लिए परहेज़ करती रही है कि उसे किसी के अधीन होने की आदत पड़ चुकी है और खुली हवा में उस की साँस घुटने लगती है। इस लिए मैं आप का प्रशंसक नहीं रहा, अपना प्रशंसक बन गया हूँ।

मैं योग्य हूँ

एक बार जब कमान से तीर छूट जाता है तो वह तरकश में वापस नहीं आता, बात जब मुंह से निकल जाती है तो वह लौट कर नहीं आती, क्षण जब बीत जाता है तो सदा के लिए बीत जाता है, अस्थियाँ जब गंगा में बह जाती हैं तो सदा के लिए विलीन हो जाती हैं। इसी लिए तो अतीत को लौटाना असम्भव होता है, उसे फिर से जीवित करना किसी के भी हाथ में नहीं है। यही तो जीवन का सब से बड़ा खेद माना जाता है। मेरे मित्र की बात दूसरी है। इसने एक बार भावना में बह कर भरी सभा में कह दिया था कि मैं एक योग्य व्यक्ति हूं। और मैं ने भी इस बात को गांठ में बांध लिया। अब मेरा मित्र मुसीबत में पड़ गया है। उसे मेरी हर बात इसलिए माननी पड़ती है कि वह अक़्ल की है; लेकिन अपने किये पर वह पछताने और मन में कुढ़ने लगा है। उस की आकुलता का एहसास और उस की विवशता का आभास मुझे भी कभी-कभी होने लगा है। योग्य होने का मेरा वहम अब मेरा विश्वास बन गया है और अविश्वास के इस युग में इसे खोकर मैं निराधार होना नहीं चाहता। अगर मैं योग्य भी नहीं रहता, तो मेरे पास कुछ नहीं रह जाता। इस का कारण यह है कि मैं न सुन्दर हूं, न ही धनी, न पति हूं, न ही पिता, न स्वामी हूं, न ही दास। इस स्थिति में अगर योग्य कहलाने से भी वंचित हो जाता हूँ तो सिफ़र बन जाता हूं। और जब तक सांस लेता हूं, शून्य किस तरह बन सकता हूं। इस लिए मेरे मित्र ने ठीक ही कहा था कि मैं योग्य हूं। अब वह औरों से कहने लगा है कि उस की राय मेरे बारे में बदल चुकी है। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूं कि उस ने भरी सभा में सब के सामने मुझे योग्य घोषित क्यों किया था ?

•

इस के बाद योग्य कहलाने के लिए मैं ने बड़ा परिश्रम किया है। हर नयी पुस्तक खरीदता रहता हूं, हर पत्रिका का गाहक बन गया हूँ। मैं यह जानता हूं कि योग्य कहलाने के लिए पुस्तकों का पढ़ना इतना आवश्यक नहीं जितना उन का क़रीने से रखना। उन पर खाकी काग़ज़ के कवर चढ़ा रखे हैं ताकि उन पर कहीं

दाग़ न लग जाये। पत्र-पत्रिकाओं को देखने के लिए वक्त की इतनी ज़रूरत नहीं है जितनी बीच के मेज़ पर उन को सजा कर रखने की। इतना करने के बावजूद भी अगर मेरा दोस्त मेरी योग्यता के बारे में अपनी राय बदलता है तो दोष उस का है। यदि एक बार किसी नारी को सुन्दर कहा जाता है तो वह सदा के लिए कहा जाता है। इसी तरह एक बार यदि किसी पुरुष को योग्य की पदवी दी जाती है तो उसे छीनना शोभा नहीं देता। यौवन में तो नारी सुन्दर होती ही है, बुढ़ापे में भी उसे सुन्दरता से वंचित नहीं किया जाता। वह बूढ़ा कर भी अपनी सुन्दरता को क़ायम रखने के लिए अधिक परिश्रम करती है। यदि किसी अधेड़ के बारे में पुराने मत को बदला जाता तो इस से उसे कितनी ठेस लग सकती है इस का अनुमान मेरे मित्र की कल्पना से बाहर है। सुनने में आता है कि हर समझदार पति और हर अक्लमन्द आशिक़ अपनी पत्नी या माशूका के बारे में इस तरह की भूल कभी नहीं करता, हालांकि इश्क़ और अक़्ल में सदा अनबन रहती है।

●

मेरा मित्र अपनी भूल को भूल नहीं समझता, मेरी ठेस को ठेस नहीं मानता। जब मैं अनुरोध-भरे अन्दाज़ से उस से कहता हूं—'तुम ने क्यों कहा था कि मैं योग्य हूं और अब एक योग्य व्यक्ति की बात को क्यों नकार रहे हो।' उस का जवाब बड़ा सरल होता है—'यह तो मैं ने शिष्टाचार के नाते कहा था और जीवन में शिष्टाचार का स्वरूप भी यही होता है।' अगर मैं शिष्टाचार को सभ्यता का अंग नहीं मानता तो यह मेरी भूल है। 'इसे सच समझ लेना योग्यता का लक्षण नहीं है। इस तरह की सभाओं में सब एक दूसरे की तारीफ़ करते हैं और इन का आयोजन भी इसी उद्देश्य से किया जाता है।' मेरा मित्र अपनी बात पर तुलता जा रहा है और मेरे पांव के नीचे धरती सरकती जा रही है। अनुताप की भावना मुझे खाने लगी है कि योग्य कहलाने के लिए मैं ने इतना धन क्यों नष्ट किया है। अगर यह सब शिष्टाचार का परिणाम होता है तो एक समय सुन्दर कही जाने वाली नारी भी शीशे के सामने बैठ कर यह ज़रूर सोचती होगी कि मैं ने शृंगार के इतने साधन क्यों जुटा रखे हैं।

●

मेरी खोपड़ी इतनी खाली नहीं है कि केवल एक मित्र के कहने पर मैं ने अपनी योग्यता पर विश्वास कर लिया था। इस से पहले परीक्षाओं में अधिक

अंक पा कर मुझे लगता था कि मैं योग्य हूँ, लेकिन बाद में कम वेतन पा कर मेरा वहम दूर भी हो गया था। मेरे मित्र ने इस सोये वहम को जगाया अवश्य था और अब वह इसे फिर लोरी दे रहा है। वह शायद एक अरसे की दोस्ती तोड़ना चाहता है। या शायद यह उस के नये बोध का परिणाम है जो वस्तु-स्थिति को भोगने के लिए विवश करता है। मेरे मित्र के स्वभाव के उलट एक और व्यक्ति को मैं जानता हूं जिस का बोध अब तक रोमाण्टिक है, जिस ने अभी तक विवाह नहीं किया है। वह अपनी लैला का चित्र अब तक मन में संजोये हुए है। उस की संवेदना कितनी सुखद है और शायद दुखद भी! उस का बोध पुराना सही, लेकिन बात अब भी उस के लिए नयी है। मेरे मित्र हैं कि अपने नये बोध के कारण अपनी बात बदलना चाहते हैं, और मेरे परिचित हैं कि अपनी बात पर अड़े हुए हैं। इन दोनों में किस का बोध सुखद है यह कहना कठिन है। इतना अवश्य कह सकता हूं कि जब एक वहम टूट गया है तो जीने के लिए एक दूसरे वहम की सृष्टि करता आया हूं। इस तरह वहमों के नाश और निर्माण में अधिकांश जीवन बीत चुका है। अन्तिम वहम का टूटना जीवन का अन्त होगा। अब मेरे सब वहम चुक गये हैं और योग्य कहलाने का एक आखिरी वहम बाक़ी है। इसे भी तोड़ने पर मेरा मित्र तुला हुआ है। मैं रघुकुल परम्परा की याद दिला कर उसे अपने बचन पर क़ायम रहने के लिए कहता हूं, लेकिन वह है कि टस से मस नहीं होता।

●

इस तरह स्थिति जड़ हो चुकी है और वह बदलने में नहीं आ रही है। जब से उस ने कहा था कि मैं योग्य हूँ तब से योग्य होने के लिए मैं ने बड़े साधन जुटाये हैं, कठोर साधना की है। पर मेरा मित्र आश्वस्त होने में नहीं आता। एक योग्य व्यक्ति की तरह मैं ने फटे कपड़े पहने हैं, खाना पान में मित से काम लिया है, ताकि शरीर दुबला हो जाये और मैं भी योग्य कहलाने का अधिकारी बना रहूँ। यहां तक कि गम्भीर दिखने के लिए मैं ने हँसना भी छोड़ दिया है। उत्तर में मेरे दोस्त का कहना है कि पुस्तकें लायब्रेरियों में भी होती हैं और उन से लायब्रेरियन योग्य नहीं हो जाता। कृष्ण योग्य था और न कि फटेहाल सुदामा। शेक्सपियर में कितनी हँसी थी और कितनी योग्यता भी। इस तरह जब मैं लाजवाब हो जाता हूँ और मेरे पास एक भी दलील नहीं रहती, तब मैं पुरानी

बात दोहराने, तिहराने लगता हूँ—'तुम ने मुझे क्यों झुटलाया था कि मैं योग्य हूँ, मेरे परीक्षकों ने मुझे क्यों धोका दिया था कि मैं पहली श्रेणी में पास होने के लायक़ हूँ, पत्रकारों ने मेरे लेख छाप कर मुझे क्यों भरमाया था कि मैं योग्य हूँ, रेडियो वालों ने इस विषय पर बोलने के लिए कह कर मेरे इस वहम को क्यों गहराया है?' जवाब नदारद है और मेरा वहम कायम है।

झूठ बोलने की कला

झूठ बोलना आज भी एक कला है, कल भी थी और न आने वाले कल भी रहेगी। आप जानते हैं कि कला वही होती है जिस का स्वरूप शाश्वत हो। इस कला को सिद्ध करना उतना ही कठिन है जितना किसी अन्य ललितकला में कुशलता पाना मुश्किल है। इसलिए झूठ बोलने को यदि छठी ललितकला का नाम दिया जाये तो अनुचित न होगा। मैं आप से सहमत हूं कि झूठ कलात्मक नहीं हो सकता, परन्तु झूठ बोलना आदि काल से कलात्मक रहा है। इसलिए झूठ और झूठ बोलना में भारी अन्तर रहता है। सच कहने के लिए कला का सहारा नहीं लेना पड़ता, परन्तु झूठ बोलने के लिए उतनी कठोर साधना करनी पड़ती है जितनी किसी अन्य ललित कला के लिए अपेक्षित होती है। आप मुझे नास्तिक कह कर मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। इसलिए मैं आप को सत्य-वादी और आस्तिक युधिष्ठिर का स्मरण कराता हूं जिन्हें झूठ बोलने के लिए कला का तब आश्रय लेना पड़ा था जब उन्होंने महाभारत के युद्ध में अश्वत्थामा के मारे जाने का समाचार दिया था। उन्होंने वास्तविकता को छिपाने के लिए कला से काम लिया था। झूठ बोलने और वास्तविकता को छिपाने में विशेष अन्तर नहीं होता। इसलिए झूठ बोलना एक कला है।

•

इस कला के अनेक नाम और रूप हैं। इस को सिद्ध करने के लिए उन सब शक्तियों का संचय करना पड़ता है जो अन्य कलाओं को सिद्ध करने के लिए आवश्यक होती है। इन शक्तियों में कल्पना-शक्ति, स्मरण-शक्ति और सृजन-शक्ति की विशेष रूप से गणना की जाती है। इन के समन्वित उपयोग से ही झूठ बोलने में कुशलता उपलब्ध होती है और काम में कुशलता पाने को गीता में योग की संज्ञा दी गयी है। इसलिए योगी या प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही झूठ बोलने का जोखम उठा सकता है। यदि वह कल्पना-शक्ति से वंचित है तो वह बात बना ही नहीं सकता; यदि उस में अभिव्यंजना-शक्ति का अभाव है तो वह बात बना कर भी कह नहीं सकता और यदि उस की स्मरण-शक्ति क्षीण है तो उस का झूठ

पकड़ा जायेगा। यदि झूठ पकड़ा जाता है तो झूठ नहीं रह जाता। महात्मा गांधी ने तभी तो कहा था कि सत्य बोलने के लिए स्मरण-शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। सत्यवादी को यह स्मरण रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि उस ने कहां, किस समय, किस व्यक्ति से क्या कहा था। उसे अपनी स्मरण-शक्ति पर बोझ डालना नहीं पड़ता; परन्तु झूठ बोलने के लिए स्मरण-शक्ति को तलवार की धार की तरह तेज रखना पड़ता है। यदि वह इसे कुण्ठित कर देता है तो उसे अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जब उस का झूठ पकड़ा जाता है। बद से बदनाम बुरा होता है। बद सफल कलाकार होता है और बदनाम असफल कलाकार। इस तरह वह असफल कलाकार की तरह इन तीनों शक्तियों का समान रूप से उपयोग नहीं कर पाता। इन के समन्वित उपयोग से ही कला में सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

●

इस कला का न तो वस्तु-पक्ष सीमित है और न ही इस का शिल्प-पक्ष परिमित है। झूठ के अनेक विषय हैं और इस के बोलने की उतनी ही शैलियाँ। शैली विषय के अनुरूप ही होती है। इस कला के विभिन्न विषय और इस की विविध शैलियां कलाकार या झूठ बोलने वाले की व्यक्तिगत रुचि का परिणाम है। झूठ बोलने में कलाकार का व्यक्तित्व भी झलकता है। इस कला के वस्तु-पक्ष के सीमित न होने पर भी झूठ को सुविधा की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है—शुद्ध झूठ, अशुद्ध झूठ और मिश्रित झूठ। इन तीन रूपों का संशोधन एवं परिष्कार भी हो सकता है। इसलिए मैं ने झूठ का विभाजन करते समय यह कहा है कि यह भेद सुविधा की दृष्टि से किया गया है। शुद्ध झूठ बोलने के लिए कल्पना-शक्ति की अधिक अपेक्षा होती है। शुद्ध झूठ वह है जिस में वास्तविकता का नितान्त अभाव हो। इसे सफेद झूठ का भी नाम दिया जाता है। साहित्यिक क्षेत्र में परियों की कथाएँ इस का उदाहरण हैं और व्यावहारिक जीवन में शिशु का छड़ी को घोड़ा समझना शुद्ध झूठ है। अशुद्ध झूठ बोलने लिए स्मरण-शक्ति की अधिक अपेक्षा होती है। अशुद्ध झूठ में वास्तविकता का अधिक पुट होता है, वह सत्य के अधिक निकट होता है। इस लिए शुद्ध झूठ बोलने के लिए कल्पना-शक्ति की जितनी अपेक्षा होता है, अशुद्ध झूठ के लिए उसकी उतनी ही उपेक्षा होती है। इस का उदाहरण यथार्थवादी साहित्य है। झूठ का तीसरा रूप मिश्रित है जिस

में न तो वास्तविकता का इतना अभाव होता है जितना शुद्ध झूठ में पाया जाता है और न ही झूठ का इतना बहिष्कार होता है जितना अशुद्ध झूठ में उपलब्ध है। मिश्रित झूठ में शुद्ध झूठ और अशुद्ध झूठ का मधुर-मिलन होता है जिस से सच झूठ लगता है और झूठ सच का आभास देता है। इसे कल्पना-शक्ति, स्मरण-शक्ति और अभिव्यंजना-शक्ति तीनों के सन्तुलित एवं समन्वित उपयोग से कलात्मक रूप दिया जाता है। परियों के काल्पनिक जीवन का चित्रण शुद्ध झूठ है, उपन्यासों में जीवन का चित्रण अशुद्ध झूठ है और कालिदास या शेक्सपियर के नाटकों में समन्वित जीवन का चित्रण मिश्रित झूठ है। इस झूठ को बोलने के लिए अनुभव-सम्पन्न और समन्वयशील प्रतिभा की अपेक्षा होती है। इस रसायन को तैयार करने के लिए उस वैद्य की आवश्यकता है जो औषधियों और धातुओं के सही अनुपात एवं विधि का ज्ञान रखता है। इस अनुपात में किंचित भूल और विधि में किंचित असावधानी रसायन को विष बना सकती है। आधुनिक युग में मिश्रित झूठ बोलने की कला का ह्रास हो रहा है और अशुद्ध झूठ बोलने की कला का विकास हो रहा है। विज्ञान ने शुद्ध झूठ बोलने की कला को तो प्रायः नष्ट ही कर दिया है।

•

झूठ बोलने के ये तीन रूप साहित्य के क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं; परन्तु जीवन में तो इस के अनेक रूप मिलते हैं। झूठ को प्रेरणा देने वाली अनेक मनोवैज्ञानिक वृत्तियाँ और सामाजिक शक्तियाँ हैं। इन में अहं की तुष्टि, स्वार्थ की सिद्धि, आत्मरक्षा की भावना, हीनता की गाँठ, समाज का भय, यश की कामना आदि की गणना की जाती है। इस विश्लेषण से कला का कोई सम्बन्ध नहीं है। झूठ के विभिन्न रूपों का विश्लेषण मनोविज्ञान का विषय है, परन्तु झूठ बोलना कला का विषय है। साहित्य के विविध रूपों का विवेचन आलोचना का विषय होता है और साहित्य का सृजन कला का विषय है। बचपन से ले कर बुढ़ापे तक झूठ बोलने की अनेक शैलियाँ हैं। झूठ बोलना जीवन का अभिन्न अंग है। इस लिए सच कहने के लिए इतने उपदेश दिये गये हैं। झूठ बोलने में रस की अनुभूति भी होती है। रस की अनुभूति सब कलाओं के लिए उस का अभिन्न अंग मानी जाती है। यदि नारी-सुषमा और बाल-वीरता की झूठ बोल कर प्रशंसा न की जाये तो जीवन के नीरस बनने की आशंका बनी रहती है। निष्कपट अहं की तुष्टि के लिए झूठ

बोलना पड़ता है और इस झूठ से बोलने वाले और सुनने वाले दोनों का जी खिल उठता है। कला का उद्देश्य ही हृदय का विस्तार और बुद्धि का परिष्कार करना है। इस लिए झूठ बोलना और प्रिय झूठ बोलना एक कला है। अनृतं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् में ही कला का अस्तित्व होता है। झूठ अप्रिय भी हो सकता है। इस की अभिव्यक्ति निन्दा-द्वारा होती है। आजकल निन्दा को भी रसों की कोटि में रखने का साहस किया जा रहा है; परन्तु इस की स्वीकृति में अभी नैतिक बाधाएँ हैं जिन का धीरे-धीरे परिहार हो रहा है। झूठ बोलने को एक कला के रूप में स्वीकार करने में इतनी बाधाएँ नहीं हैं। इस की परम्परा आदिकाल से चली आ रही है। यह ठीक है कि इस कला पर अभी स्वतन्त्र रूप से काव्य-शास्त्र नहीं लिखा गया, परन्तु इस कला के सूत्र साहित्य तथा जीवन में मिलते हैं जिन्हें बाँधने की आवश्यकता है। ब्रह्म सत्य है और माया झूठ। इस लिए ब्रह्म या सत्य ज्ञान-विज्ञान का विषय है और माया या झूठ साहित्य या कला का विषय है। जीवन में जितनी माया लुभाने वाली है, कला में उतना झूठ बोलना लुभाने वाला होता है। झूठ बोलना साहित्य तक ही सीमित नहीं है, उस का विस्तार जीवन में भी पाया जाता है। झूठ बोलना स्वयं एक कला है।

ऋण बनाम उधार

उधार तो चुक सकता है या चुकाया भी जा सकता है, लेकिन ऋण चुकने में नहीं आता। इसे बोझ की तरह जीवन-भर उठाना पड़ता है तरह-तरह के उधार हैं और क़िसम-क़िसम के ऋण। इन में भारी अन्तर भी है। मां-बाप का ऋण और दोस्तों का उधार, गुरु का ऋण और दूकानदार का उधार, सरकार का ऋण और दूध वाले का उधार, पत्नी का ऋण और अख़बार वाले का उधार। और दोनों की सूचियाँ इतनी लम्बी हैं कि इन को चुकाने या उठाने में सारा जीवन बीत जाता है। आज माँ-बाप के ऋण को उतारना या उठाना असम्भव हो गया है। कौन वैदिक परिवार की तरह दस की सन्तान का आज इतना बोझ उठा सकता है। यदि इसे उठाने की कोशिश की जाये तो धरती भी इसे सहने से इनकार कर देगी। आख़िर माँ के धीरज की भी तो सीमा होती है। बेचारे होरी को एक नहीं छह महाजनों के ऋण को उठाना पड़ा था और इस के बोझ से दब कर वह धराशायी हो गया। उसके गाँव में यदि सहकारी बैंक होता तो महाजन से ऋण लेने के बजाय बैंक से उधार ले सकता था और इसे चुका भी सकता था। यदि वह पुराने युग का भी होता तो ऋण लेकर घी पी सकता था। आज तो इनसान में घी हजम करने की ताक़त ही नहीं रही। उधार चुकाने के लिए एक ही जन्म काफ़ी है, लेकिन ऋण उठाने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जन्म-जमान्तरों का सिद्धान्त भी शायद इस लिए गढ़ना पड़ा था—वैश्यों ने ब्राह्मणों के मुख से इस का प्रसार-प्रचार करवाया होगा। इसी जीवन में मुक्त होने की सम्भावना के संकेत भी पुराने साहित्य में मिल जाते हैं, लेकिन आज जीवन्मुक्त उसे कहा जा सकता है जो ऋण को ऋण नहीं समझता। वह चाहे मातृ-ऋण हो या पितृ-ऋण, सरकार का हो या महाजन का, अपनी पत्नी का हो या किसी के एहसान का। गुरु का ऋण आज उधार में बदल गया है, छात्र फ़ीस देता है और गुरु इसके बदले में उसे पढ़ाता है। इसलिए आज का स्टूडेण्ट मास्टर के अचानक देखने पर कन्नी काट जाता है ताकि नमस्कार करने का कष्ट न उठाना पड़े।

इस तरह यदि ऋण क़िसम-क़िसम के हैं तो उधार भी तरह-तरह के हैं।

उधार का नाता इस जन्म से तो है ही। वह चाहे आटा-चावल के लिए हो या तेल-कोयले के लिए, सब्ज़ी-भाजी के लिए हो (फल उधार में मिलना बन्द हो गया है) या दवा-दारू के लिए, स्याही-कागज के लिए हो या वनस्पति घी के लिए—सब को उधार पर हासिल करना होता है। एक आदमी को मैंने जब वनस्पति के दो टिन सस्ते भाव बेचते हुए देखा तो उस के चले जाने पर दूकानदार से पूछा—बात क्या है? उस का कहना था कि वह कहीं से इन को उधार पर लाया है और अपनी बीमार बेटी के लिए दवा नक़द ख़रीदने के लिए मजबूर है। तब से यह एहसास गहरा हो गया है कि उधार लिए बिना जीना मुहाल है। पहली तारीख़ के बाद जब प्रेम-पत्रों (बिलों) का पूरा जवाब नहीं दिया जाता तो प्रेम पर सन्देह होने लगता है। उधार माँगने वाला जब दरवाज़े पर दस्तक पर दस्तक देने लगता है तो कभी पति को और कभी पत्नी को अपने घर से बाहर रहना पड़ता है। हर महीने बढ़ता उधार कभी मकान बदलने के लिए तो कभी शहर छोड़ने के लिए भी मजबूर कर सकता है। एक उपन्यास के किसी पात्र की याद ताज़ा होने लगती है जो एक-एक गली से उधार माँग कर शहर छोड़ने पर मजबूर हो गया था।

एक और तरह का उधार है जो मँगनी-शादी के अवसरों पर बहीखाते में चढ़ाया जाता है। इसे गिन-गिन कर उतारना होता है। इसके बिना कुल की लाज के खो जाने का भय है और नाक के कट जाने का खतरा। इस में पुश्तों की रक़में दरज रहती हैं जिन्हें चुकाना होता है, वरना लड़की के कुमारी रह जाने का डर पैदा हो सकता है। यह बहीखाता मेरा देखा हुआ है, लेकिन एक और अनदेखा भी है। इस में हर पाप को उधार के रूप में यमदूत चढ़ाता है। पाप इसलिए कि पुण्य तो कभी-कभी करने को मिलता है। और यमदूत बड़ा कड़ा मुनीम है। दातादीन की तरह होरी के देहान्त पर धनिया से गोदान करवाने के लिए पहुँच जाता है। इस मुनीम से एक नये पैसे की छूट पाने की आशा नहीं है। इतने उधारों से घिर जाने पर एक ऐसी जमात भी पैदा हो रही है जो यह समझने लगी है कि देश अपना है, सरकार अपनी है, बीमा कम्पनी अपनी है, जीवन अपना है – सब कुछ सब का साँझा है तो उधार कैसा और इसे चुकाने की बात क्यों? ग़ालिब की तरह उधार को उधार समझ कर पीने से बाद में फ़ाकामस्ती अपना रंग लाती है। अपना-अपना उधार चुकाने की बात अगर सोची जाती है तो सब

जगह छंटनी हो जाने की सम्भवना है। इस तरह बेकारी बढ़ जायेगी और बढ़ती आबादी में बेकारी का बढ़ जाना खतरनाक है। इस लिए उधार-वुधार कुछ नहीं होता। यह एक वहम है।

एक और तरह का उधार औरतों में चलता है जो हर रोज़ चुकाया जाता है : आलू-गोभी देकर आलू-मटर लेना। यह लेन-देन है, छोटी तरह का उधार है, लेकिन याद उसे भी रखा जाता है। आजकल बल आलुओं पर देना होता है, मटर और गोभी महँगे होते जा रहे हैं। यह इस लिए भी कि आलू सब में उसी तरह पड़ सकता है जिस तरह राजनीतिक नेता सब दलों में शामिल हो सकता है। इस लिए राजनीति आज आलू की बन रही है। लड़कियों में कपड़ों का उधार चलता है जो चुस्त पोशाक के ज़माने में कम होने लगा है। सब को सब का पायजामा फ़िट नहीं बैठता। खुली शलवार के दिन लद चुके हैं। साड़ी की अवस्था में पहुँच कर यह उधार फिर जारी हो जाता है। इसी तरह की धोती-संस्कृति में इस में विस्तार आने लगता है, लेकिन पतलून की सभ्यता में संकोच। तहमत बाँधने का ज़माना बीत चुका है जो सब को फ़िट आ जाती थी।

इस तरह ऋण तो जनम-जनम का साथी होता है, लेकिन उधार इस जनम का ही साथी बन कर रह जाता है। ऋण का बोझ उठाने से मोक्ष मिलता है, लेकिन उधार चुकाने से केवल छुटकारा। मोक्ष-मुक्ति में तो मेरा विश्वास नहीं रहा और उधार से छुटकारा अभी तक पा नहीं सका। शेक्सपियर ने तो न उधार लेने की और न ही देने की सीख दे रखी है। इस से बजट में सन्तुलन बना रहता है। इसे गाँठ में बांध कर इस पर चलने की एक बार कोशिश भी है। काफ़ीबाज़ी का जब शौक़ था तो ख़ाली मेज़ पर जा बैठता था। अगर दूसरा आ टपकता था तो बिलों का आधा दे कर बिल उस के हाथ पकड़ा देता था। वह इसे डच तरीक़ा कहता था। तरीक़ा मैंने निकाला था और इस का श्रेय डच क़ौम को मिलता रहा। इसी तरह सिनेमा देखने के लिए किसी के साथ योजना नहीं बनाता था। अन्तराल में अनेक साथी मिल जाते थे। शेक्सपियर की सीख पर अमल करते-करते जीवन सूखने लगा और हैरानी इस बात की थी कि सरस कवि ने इतनी नीरस सीख क्यों दी है। उधार लेने-देने के बिना तो सब नाते टूटने लगते हैं। उधार देकर किसी को याद किया जा सकता है या लेकर खुद को याद करवाया जा सकता है। संन्यासी न उधार लेता है और न ही देता है। इनसान को इन-

सान बनने के लिए इसे लेना भी पड़ता है और देना भी। उधार के बारे में शेक्सपियर के संकुचित दृष्टिकोण को जब से छोड़ा है तब से उधार लेने वाला और अपना माँगने वाला मेरे दरवाज़े पर दस्तकें देता है और मुझे लगता है कि मैं जी रहा हूँ।

बहानेबाज़ी

मेरी छोटी समझ से यह बाहर है कि हर तरह की बाज़ी और ख़ोरी को दोष क्यों माना जाता है, जब कि इन के बिना जीना मुश्किल है। यह चाहे गप्पबाज़ी हो या गोष्ठीबाज़ी, इश्क़बाज़ी हो या पतंगबाज़ी, बहानेबाज़ी हो या धोकेबाज़ी, चुटकलेबाज़ी हो या पैंतरेबाज़ी। बाज़ी की तरह ख़ोरी की गिनती भी कम नहीं है — चुगलख़ोरी, सूदख़ोरी, हवाख़ोरी, मांसख़ोरी, घूसख़ोरी और अब चायख़ोरी, काफ़ीख़ोरी। आशिक़ को बुरा नहीं माना जाता, लेकिन इश्क़बाज़ को फूटी आँख से देखा जाता है। इसी तरह एकाध चुगली खाना बुरा नहीं है: लेकिन बार-बार इसे खाने वाला चुगलखोर कहलाता है और इस की संगत से परहेज़ बरता जाता है। कभी-कभार गप्प हांकना तो ठीक है, लेकिन सुबह से शाम तक इसे हांकने वाला गप्पबाज़ समझा जाता है और इस से बचने की कोशिश की जाती है। वसन्त में पतंग उड़ाने वाला पतंगबाज़ नहीं कहलाता, लेकिन सारा साल पतंग उड़ाने वाला ही पतंगबाज़ के अधिकार को पा सकता है।

यही हाल आज गोष्ठीबाज़ का है। कभी-कभार गोष्ठियों में शामिल होना गोष्ठीबाज़ी नहीं कही जा सकती, कभी-कभार चोंचें लड़ाने से तो पंछियों की सेहत बनती है; लेकिन हर रोज़ चोंच लड़ाने से लहू के फूट पड़ने का ख़तरा पैदा हो जाता है। यह ठीक है कि गोष्ठियों में शामिल होने से हर विषय पर इतनी चलती जानकारी मिल जाती है कि उस पर किताबें पढ़ने से छुटकारा भी मिल जाता है; लेकिन इन के बिना जब किसी का जी उदास होने लगता है तो उसे गोष्ठीबाज़ कहना उचित है। मेरे एक अज़ीज़ को इस का पूरा पता रहता है कि किस शहर में कहानी पर गोष्ठी होने वाली है, किस नगर में कविता पर, किस क़सबे में उपन्यास के भावी पर, किस गढ़ में भाषा के संकट पर। इसी जानकारी से उस के तलवों में हरकत पैदा हो जाती है और उस में शामिल होने के लिए वह साधन जुटाने में लग जाता है। गोष्ठी में बात अपनी-अपनी कहनी होती है, चाहे इस में वज़न हो या न हो; लेकिन कहने का अन्दाज़ ज़रूरी है। गोष्ठियों में किसी के शामिल होने की तादाद अगर आधे सैंकड़े के पार हो जाती है तो वह गोष्ठी-पति बनने

का और हर विषय पर फ़तवे देने का अधिकार पा लेता है। मुझे बताया गया है कि एक गोष्ठीबाज़ ने इन का सहारा लेकर एक किताब भी लिख डाली है जिस में सब आलोचकों का मज़ाक़ उड़ाया गया है। इसी तरह घर में काफ़ी पीने वाला काफ़ीबाज़ नहीं हो सकता, इस के लिए काफ़ी हाउस जाना पड़ता है। अपनी पत्नी को चाहने वाला इश्क़बाज़ नहीं बन सकता, हर छोटी-बड़ी से इश्क़ जतलाने वाला ही इस पदवी को पा सकता है। घर में टहलने वाला हवाख़ोर नहीं हो सकता है, इस के लिए नदी या झील पर जाना होता है। कॅप के हिसाब से चाय पीने वाले को चायख़ोर नहीं कह सकते इस के लिए चायदानियों का हिसाब रखना होता है। क्या इस का मतलब यह हुआ कि बाज़ी और ख़ोरी में अति का होना आवश्यक है ?

यह हो सकता है कि इनसान हवाख़ोर, मांसख़ोर [सब्ज़ीख़ोर क्यों नहीं होता और न ही माखन ख़ोर], सूदख़ोर या चुगलख़ोर न हो। यह भी सम्भव है कि इश्कबाज़, पतंगबाज़, गप्पबाज़ या गोष्ठीबाज़ भी न हो, लेकिन बहानेबाज़ी के बिना काम किस तरह चल सकता है। क़दम-क़दम पर बहाना बनाना पड़ता है। अगर यह सही है तो बहानेबाज़ी बुरी क्यों मानी जाती है ? आप शादियों में शामिल होना नहीं चाहते, सभा-सोसायटियों से दूर रहना चाहते हैं। एक पति बड़ी आसानी से कह सकता है कि पत्नी की तबीयत ठीक नहीं है और सीता के बिना राम का आना-जाना किस तरह हो सकता है ! वह चाहे रात के दूसरे पहर ताश खेल कर लौटते हों या धोबी के कहने पर सीता को वनवास दे सकते हों। पत्नी नहीं है या मर चुकी है तो अपनी तबीयत ख़राब करनी पड़ती है। बुख़ार के बहाने का पता तो चल जाता है लेकिन सिर और पेट के दरद का पता लगाना मुश्किल होता है। प्रेमचन्द की कहानी **पूस की रात** में जब सारा खेत चट हो गया था तो पति को पत्नी के डांटने पर यह बहाना लगाना पड़ा था कि उस के पेट में वह दरद उठा कि जान के लाले पड़ गये थे।

इस तरह हर स्थिति से बचने के लिए एक नया बहाना खोजना पड़ता है। एक रिश्तेदार हैं जो साल में एक-दो बार पहली तारीख को अपनी तनख़ाह निजी उधार चुकाने के कारण जब घर नहीं ला सकते तो इन को कभी पतलून की फटी जेब अपनी बीवी को दिखानी पड़ती है जिस से सारे नोट रास्ते में गिर गये और जिस के लिए वह ज़िम्मेवार है या कभी टैक्स में सारी तनख़ाह के कट जाने का

बहाना बनाना पड़ता है जिस के लिए ज़िम्मेवार सरकार है। इस तरह घर और बाहर की सरकार को दोष दे कर वह स्वयं बच जाते हैं और बहानेबाज़ी से घर में शान्ति बनी रहती है। हमेशा सच बोल कर पत्नी से बना कर रखना किस तरह हो सकता है? बहानेबाज़ी में इश्क़ नहीं होता, लेकिन इश्कबाज़ी में बहानेबाजी लाज़मी है। सरकारी या ज़रूरी काम का बहाना बना कर बाहर जाना हो सकता है, घड़ी को ख़राब बता कर या सायकिल को पंक्चर कर घर में देर से पहुँचा जा सकता है। बहानेबाज़ी बचपन से लेकर बुढ़ापे तक चलती है। स्कूल का काम अगर न किया हो तो माँ की बीमारी का बहाना गढ़ना पड़ता है, हलवा खाने को अगर जी करता हो तो बूढ़े को अपने दाँत के दरद की बात करनी होती है। मेरे चाचा ने जब अपने सारे दाँत एक-एक कर के निकलवा दिये तो मैं ने उन्हें नया सेट लगवाने के लिए पैसे पेश किये। इन के इनकार करने की असली वजह यह थी कि चाची नरम-नरम पकवान की जगह सूखी रोटी देना शुरू कर देगी। बचपन की बहानेबाज़ी में भोलापन होता है, लेकिन बुढ़ापे की बहानेख़ोरी में सोच-विचार पाया जाता है। जवानी में इसे एक कला के रूप में साधना होता है। इश्क़ या मुहब्बत में सफलता यदि ख़तरे में पड़ने लगती है तो नदी या झील में छलांग लगाने की धमकी इस तरह देनी होती है कि वह बहाना न लगे। इस का ही नाम कला है। इश्क़ में इस की ज़रूरत इस-लिए अधिक होती है कि मुहब्बत कहने से मुँह इतना भर जाता है कि और कुछ कहने की सम्भावना ही नहीं रहती।

एक स्थिति से यदि बच निकलने की समस्या हो तो बहानेबाज़ी की ज़रूरत नहीं पड़ती, लेकिन क़दम-क़दम पर स्थितियों का सामना करना पड़ जाय तो बहानेख़ोरी के सिवाय और चारा ही क्या है। न मिल सकने के लिए, समय पर न पहुँच सकने के लिए, काम न कर सकने के लिए, सरदियों में न नहाने लिए, बीवी को सैर न करवाने के लिए, सिनेमा न जाने के लिए नकारात्मक स्थितियों में नया से नया बहाना खोजना पड़ता है। एक ही बहाना लगाना काठ की हाँडी की तरह होता है जिसे राजनीतिक नेता ही बार-बार चढ़ाना जानता है। औसत आदमी के बस का यह रोग नहीं है। मुझे खाना खाते ही नींद आने लगती है। इस लिए मैं किसी की दावत पर जाने से कतराता हूँ। खाना खाने के बाद बातें करना शिष्टाचार समझा जाता है जिस का पालन करना कठिन हो जाता है। हर

दावत पर न जाने का एक ही बहाना किस तरह बनाया जाता है। एक बार तो कहा जा सकता है कि पेट खराब है; लेकिन हर बार यह कहने से दोस्त डॉक्टर के पास ले जाते हैं और डॉक्टर दवा खाने के लिए मजबूर करता है। जब सभापति बनने के लिए मुझे विवश किया जाता था तो मैं ने यह बहाना गढ़ा कि मुझे बार-बार उठ कर बाथरूम में जाना पड़ता है और यह सभापति को शोभा नहीं देता। सभापति बनने की बोरियत से बच गया, लेकिन मुझे डायबटीज़ का शिकार समझा जाने लगा। काश, मुझे भी बहानेबाज़ी आती, तरह-तरह के बहाने बना सकता और इन मजबूरियों से बच सकता !

गालियाँ

मुझे बचपन से गालियाँ खाने का अवसर तो कम मिला है, लेकिन दूसरों को खाते सुनने का शौक़ बराबर रहा है। आज जब इन को याद करने की कोशिश करता हूँ तो लगता है कि 'नयी कविता' के वज़न पर ये क़िसम-क़िसम और तरह-तरह की हैं। देने वाले कम और सुनने वाले अधिक उसी तरह हैं जिस तरह कवि कम और पाठक अधिक होते हैं। रचनाकारों की कमी सदा से रही है। क़िसम-क़िसम की गालियाँ इस लिए कि ज़माने के बदलने के साथ-साथ इन का नाम और रूप बदलता रहा है; तरह-तरह की इस लिए कि इन का अन्दाज़ बदलता रहा है। वैदिक काल से ले कर आज तक की गालियों से यह गवाही मिल जाती है। गालियाँ हर देश, जाति और भाषा के साँचों में अपनी तरह ढलती रही हैं। इस लिए इन का अपना-अपना मुहावरा और स्वाद है। मुझे यह समझ में नहीं आ रहा कि यह विषय हिन्दी-शोध से अछूता क्यों रह गया है, जब कि यह इतना वज़नदार और जानदार है। इसे तो डी० लिट्० के क़ाबिल बनाया जा सकता था।

इन गालियों पर सरसरी नज़र डालने पर इतना साफ हो जाता है कि कुछ गालियाँ स्थायी हैं और कुछ अस्थायी। सेक्स-सम्बन्धी गालियाँ स्थायी और शाश्वत हैं। इन की स्थिति कविता में उन स्थायी भावों के समान है जिन का परिपाक रस में होता रहा है। इन की रचना उन कहावतों और मुहावरों की तरह होती रही है जिन के रचनाकारों का नाम ग़ायब है। गालियाँ कभी ठोस होती हैं तो कभी तरल, कभी स्थूल तो कभी सूक्ष्म, कभी अभिधात्मक तो कभी व्यंजनात्मक, कभी विवरणात्मक तो कभी चित्रात्मक। इस लिए क़िसम-क़िसम और तरह-तरह की। इन की वस्तु कभी राजनीतिक होती है तो कभी साहित्यिक, कभी धार्मिक तो कभी नैतिक। इन के मूल में कभी घृणा होती है तो कभी क्रोध, कभी कोमलता तो कभी कठोरता, कभी निराशा तो कभी कुण्ठा, कभी वीरता तो कभी कायरता या नपुंसकता। वीरता से उपजी गाली अक्सर मुँह पर दी जाती है, कायरता या नपुंसकता से फूटी पीठ पर या मन में। अधिकांश गालियाँ पीठ

पर या मन में दी जाती हैं। एक गुण सब तरह की गालियों में पाया जाता है और यह इन का छोटी-से-छोटी होना है। गाली जितनी छोटी होती है उतनी ही वह बिहारी के दोहे की तरह अधिक गहरी चोट करती है। ठिगनी गाली ठिगने आदमी की तरह अधिक मारक होती है। यह उस गीति के समान होती है जिसे इने-गिने शब्दों में रचा जाता है। यदि गीति में अनावश्यक विस्तार हो तो इस का असर पतला पड़ जाता है। यदि इने-गिने शब्द गीति की विशेषता है तो एक ही शब्द पूरी गाली की है—गधा, हरामज़ादा। यदि गधा या हरामज़ादा से घनीभूत घृणा या संचित क्रोध की अभिव्यक्ति मिल जाती है तो इसे सफल रचना कहा जा सकता है।

एक और क़िस्म की गाली है जिस का सम्बन्ध माँ-बहन के रिश्तेदारों से है। यह क्यों है—इस का जवाब समाजशास्त्र का पण्डित उसी तरह दे सकता है जिस तरह सेक्स-सम्बन्धी गालियों के क्यों का उत्तर मनोविज्ञान का पण्डित। इन गालियों में भी घृणा आदि स्थायी भावों की रसात्मक अभिव्यक्ति मिलती है—साला, ससुर, मामा। सेक्स से सीधा सम्बन्ध रखने वाली गालियाँ प्रायः क्रियात्मक या विवरणात्मक होती हैं। इन की गिनती अश्लील और असभ्य रचनाओं में की जाती है; लेकिन साला, मामा आदि अभिधात्मक होने के कारण इस कोटि में नहीं आतीं। इन गालियों में कला का प्रायः अभाव होता है; लेकिन साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक गालियों की रचना के लिए कला का सहारा लेना पड़ता है, व्यंजना-लक्षणा की शक्तियों का उपयोग करना पड़ता है। देवानां प्रिय कलात्मक गाली है और गधा अकलात्मक लेकिन दोनों का मतलब एक ही है।

इतिहास पर अगर सतही और सरसरी निगाह डाली जाये तो गालियों का एक भण्डार खुल जाता है। एक युग था कि गाली जातिगत थी—असुर, राक्षस, चाण्डाल, चमार। आज भी इस के अवशेष सुनने को मिल जाते हैं। मेरे एक मित्र जब मुझ से नाराज़ हो जाते हैं तो वह मेरी पीठ पर मुझे अब भी चमार कह कर शान्त हो जाते हैं। गाली का रिश्ता उपाधियों से भी रहा है। अँगरेज़ों के शासन-काल की उपाधियाँ आज गालियों का रूप धारण कर चुकी हैं—रायसाहब, रायबहादुर, ख़ाँ साहब, ख़ाँ बहादुर। आज इन से घृणा की गन्ध आती है। इनकी रचना-प्रक्रिया में पहले घृणा, फिर उपहास और अन्त में गाली को आंका जा सकता है।

पद्मश्री, पद्मभूषण, पद्मविभूषण के बारे में अभी राय क़ायम करना ग़लत साबित हो सकता है। इस समय इतना ही कहा जा सकता है कि इन की चमक मन्द पड़ने लगी है, मुलम्मा उतरना शुरू हो गया है। यह हो सकता है कि ज़ंग लगने पर ये सामाजिक गालियों का रूप धारण कर लें। कुछ गालियाँ राजनीति से जुड़ी हुई हैं। यदि साम्यवादी भाषा में किसी को गाली देनी हो तो बूरजवा कह कर काम चल सकता है। गाली की रचना में कोशिश करनी पड़ती है कि यह छोटी से छोटी हो, एक ही शब्द में स्थायी या अस्थायी भाव को बन्द कर सके। इस की अभिव्यक्ति सूत्रात्मक होती है और सूत्रों में यदि एक भी अक्षर कम किया जाता है तो इस का सेहरा रचनाकार को पहनाया जा सकता है। राजनैतिक गालियों की भी कमी नहीं है — फ़ासिस्ट, प्रतिक्रियावादी, चंगेज़शाही, तानाशाही, नादिरशाही, कट्टरवादी, संशोधनवादी आदि। इसी तरह अगर किसी साहित्य-कार को गाली देनी हो तो उसे **रोमाण्टिक** कहने से काम चल सकता है या थोड़ा विस्तार में जाना हो तो उस पर छिछली भावुकता का लेबल चिपकाना आवश्यक है। यदि इस से आगे बढ़ना हो तो उसे मध्यकालीन या व्यावसायिक कहना पड़ता है। गालियों का मतलब केवल इतना होता है कि उसे बुरा नाम दे कर उसे गिराना। यदि किसी आलोचक को गाली देनी हो तो उस की बात को पढ़े बिना उस की आलोचना को एकिडेमिक कहा जाये। इन गालियों में सुविधा यह है कि इन्हें देने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता, कृति को देखना या आलोचना को पढ़ना नहीं पड़ता। देखते-देखते गालीकार दुविधा में पड़ने का ख़तरा मोल ले लेता है और इस स्थिति में गाली ज़बान पर आने से परहेज़ कर सकती है। गाली तो तुरंत दी जा सकती है, देख-पढ़ कर नहीं। इस राजनीतिक और साहित्यिक गालियों में नीरसता और बौद्धिकता का अंश है। इस लिए आदिम या स्थायी भाव से फूटने वाली गालियों की तरह ये रस-सिद्धान्त की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। इस दृष्टि से ये गालियाँ **नयी कविता** से मेल खाती हैं, कभी-कभी ये **अकविता** के निकट भी पहुंच जाती हैं जो **नयी कविता** की एक क़िसम है। यदि रस में आक्रोश की मात्रा अधिक हो तो यह **युयुत्सु** का दम भर सकती है। यह इसलिए कि कविता-कहानी आदि सृजन को तलाक़ देने पर तुली हुई है जो अभी मिल नहीं रहा है। सृजन पर आरोप व्यभिचार का है जो अभी साबित नहीं हो सका है। इस के लिए **गवाहियों** की तलाश जारी है।

यदि गालियां की रचना स्थायी भाव को ले कर संचार-व्यभिचारी की संगत में की जाती है तो इन में रस का संचार होने लगता है। लड़की को **खसमखानी** या **बुड्ढल** की गाली जब दी जाती है तो इस की रचना स्थायी भाव को ले कर है। इसे अब आदिम माना जाता है, आदि कवि की रचना की तरह। जानवरों का सहारा ले कर जब गालियों की रचना की जाती है तो इन में भी आदिम स्वर ध्वनित होता है—सूअर, उल्लू, कुतिया, बैल। औरतों और मरदों के लिए गालियां अलग-अलग हैं। सूअर और उल्लू आदमियों के लिए सुरक्षित हैं। यदि इन में वज़न लाना हो तो इन के साथ **बच्चा** या **पट्ठा** जोड़ना पड़ता है ताकि गाली पुरजोर आवाज़ दे सके। इस तरह की गालियों में भोंडापन है। इस लिए इन का रिवाज धीरे-धीरे कम हो रहा है। आज लड़की को **देवी** कह कर पुकारना अगर पूरी गाली नहीं समझी जाती तो गाली-सी अवश्य मानी जाने लगी है। इसी तरह आदमियों के लिए **साधू**, **महात्मा** भी आधी गालियों में शुमार होने लगे हैं। यह उसी तरह जिस तरह अशोक के शासन के बाद **देवानांप्रिय** से गधे की ध्वनि निकलने लगी थी। इस लिए हर युग में कविता-कहानी की तरह गलियों का मिज़ाज और अन्दाज़ बदलता रहा है। अन्तर केवल इतना है कि कविता-कहानी का मिजाज तेज़ी से दशकों में बदलता है। आज अंग्रेज़ी में **लेडी** गाली है, पहले यह तारीफ़ थी। मुझे लगता है कुमारी और श्रीमती के देवता भी कूच करने वाले हैं, मिस और मिसेज़ के स्थापित होने वाले हैं। श्री के देवता अभी क़ायम हैं। इस से एक बड़े आदमी का नाम जुड़ा हुआ है जो **पण्डित** शब्द से चिढ़ते थे। आचार्य के देवता अभी कूच करने से इनकार कर रहे हैं; लेकिन इस देवता पर छींटे कसे जाने शुरू हो गये हैं। असल में गाली की रचना-प्रक्रिया में पहले व्यंग्य और उपहास का संचार होने लगता है और तब जा कर वह कहीं पूरी गाली का रूप धारण करती है।

दिल के बहलाने को

एक युग था जब पैदल चल कर मन बहल जाता था, चौसर-ताश-शतरंज खेल कर या तीतर-बटेर लड़ा कर समय बीत जाता था। मिरज़ा ग़ालिब सुबह से शाम तक शायरी थोड़े ही करते थे; उन को भी चौसर-शतरंज का चस्का था। प्रेमचन्द भी तो शतरंज के खिलाड़ी थे जिन को खेल में आस-पास की सुध नहीं रहती थी। इस के बहुत पहले भी मनोरंजन के अनेक साधन होते थे। पढ़े-लिखे होते थे तो उन को काव्य-शास्त्र का व्यसन था, साधन वाले होते थे तो साधनों के चुक जाने पर पत्नी तक को दाँव पर लगा देते थे। यह सही है कि आज की पत्नी को सब के सामने दाँव पर नहीं लगाया जा सकता। यह भी सही है कि चौसर-शतरंज खेलने के लिए आज के संवेदनशील के पास न ही समय है और न ही धीरज। सुनने में आया है कि अमरीका में बेकार आदमी भी सुबह उठ कर उसी उतावलेपन से बूट पालिश करता है, हजामत बनाता है और नाश्ता लेता है जिस तरह काम पर जाने वाला तैयार होता है। उस के मुँह में भी टोस्ट का टुकड़ा उसी तरह होता है जिस तरह नौकरी पर हाज़िर होने वाले के मुँह में जिसे भागते-भागते बस या गाड़ी पकड़नी होती है। बेकार भी शाम को उसी तरह थका-मांदा लौटता है जिस तरह काम पर जाने वाला। इतनी व्यस्तता होने पर मन भटकने से बाज़ नहीं आता और जी बहलने में नहीं आता। हर कविता-कहानी में आज जी उदास-उदास उखड़ा-उखड़ा-सा नज़र आता है। दिल बहलाने के साधन तो बढ़ते जा रहे हैं; लेकिन मन है कि वह बहलने में नहीं आता। इस लिए बोरियत गहरी होती जा रही है।

एक बाबा को जानता हूं जिस की नींद अनायास रात के तीसरे पहर खुल जाती है। इन की नज़र भी कमज़ोर है; लेकिन भगवान पर इन का बेहद विश्वास है। वह माला के मनकों को गिन-गिन कर अपना मन ही नहीं बहला लेते; मन को सन्तोष भी दे लेते हैं। एक सौ आठ मनके गिनते-गिनते अगर भूल हो जाती है तो एक सौ आठ मनके फिर गिनने लग पड़ते हैं। मालाएं भी इन के पास दो हैं। घर में पोते-नाते तंग करने के लिए एक को छिपा भी देते हैं। मन की माला न सही,

मनकों की तो है। और सन्त कबीर ने इस का क्यों विरोध किया है ? आज भगवान पर विश्वास करना वहम माना जाता है, लेकिन क्या यह वहम दिल बहलाने के लिए बुरा है ? इसे किसी तरह तो बहलाना पड़ता है; समय किसी तरह तो बिताना ही पड़ता है। मेरे रिटायर पड़ोसी ने अपने बाग़ में सब्ज़ी ही सब्जी लगा रखी है, फूल लगाने में उन का विश्वास नहीं है। सुबह उठ कर वह हर बैंगन और गोभी के फूल को बड़ा होते देख इतना खुश हो जाते हैं कि वह इसे अकेले सहन नहीं कर पाते। इस खुशी में वह अपनी बीवी को शामिल करने के लिए उसे एक-एक बैंगन गिनवाते हैं और एक गम्भीर बातचीत के बाद एक अहम फ़ैसला करते हैं कि दोपहर के भोजन पर क्या बनेगा। वह रात के भोजन का फैसला सुबह इस लिए नहीं करते हैं कि शाम को भी उन से अपना दिल बहलाना होता है। इसी तरह बूढ़ी काकी को अगर घर में दिल बहलाने का अवसर नहीं दिया जाता और उसे आज घर की वस्तु समझ लिया जाता है तो वह मन्दिर में जा कर एक-दूसरे की चुगली से अपने जी को चैन दे लेती है। भगवान् के सामने चुगली करना भी चुगली नहीं माना जाता। जवान लड़कियाँ बिना कुछ ख़रीदे, शापिंग से अपना मन बहला लेती हैं। क्या शापिंग में ख़रीदना शामिल है ? क्या खुद ख़रीदने से अधिक जी बहलता है या दूसरों को ख़रीदवाने में, अपने जेब से पैसे निकालने में या दूसरों की जेब से निकलवाने में ?

इसलिए समय जब भारी पड़ने लगता है और अकसर यह भारी पड़ने लगता है तो इसे बिताने के लिए या अपना जी बहलाने के लिए अनेक साधनों को अपनाना पड़ता है। इन में अकेले सैर-सपाटा करना भी है और बिना मतलब के मिलना-जुलना भी, दावतें देना भी है और दावतें खाना भी, ख़त लिखना भी है और पाना भी, किताबें पढ़ना भी और अख़बार बांचना भी। अब ख़त लिखना कम हो जायेगा, डाक के भाव इतने बढ़ा दिये गये हैं कि जन्म-मरण और गठबन्धन के सिवा ख़त के लिए ख़त लिखना कठिन हो जायेगा। किताबों और अख़बारों के भाव भी चढ़ते रहे हैं। इन्हें माँग कर पढ़ना भी मुश्किल होता जा रहा है। इस लिए दिल बहलाने का सवाल टेढ़ा होता जा रहा है। इधर साधनों की एक तरफ कमी होती जा रही है और उधर दिल जटिल से जटिलतर होता जा रहा है। यह न तो माला फेरने से बहलता है और न ही गोभी का फूल उगाने से। कुकुरमुत्ता उगाने का सवाल ही नहीं उठता। इसे उगाया नहीं जा सकता। यह केवल पढ़े-लिखों के बारे

में सही नहीं; अनपढ़ों के बारे में भी सही है। अपना जी बहलाने के लिए मेरे नौकर ने तब से ताश खेलना छोड़ दिया है जब से पूस की एक रात को वह अपने दोनों कम्बल दाँव पर लगा बैठा और हार गया और मैं ने उसे खाट पर ठिठुरते हुए पाया। क्या उसका दाँव द्रोपदी से कम था? अब वह घर जाने की सोच रहा है।

आज महँगी के ज़माने में दिल बहलाने के पुराने शौक़ छूटते जा रहे हैं। यह चाहे ताश खेलना हो या चौसर लगाना, ख़त लिखना हो या दावत देना, नृत्य देखना हो या संगीत सुनना। शिव की बूटी के सिवा अन्य साधन भी इतने महँगे होते जा रहे हैं कि दिल का क्या क़सूर है। कड़वी काफ़ी से तो कड़वापन ही पैदा हो सकता है। मेरे एक मित्र बदलते मौसमों से दिल बहलाने की सीख देते हैं। इस में पैसे का सवाल ही नहीं उठता। वह पूनम की चाँदनी को देख कर जी बहलाने के लिए कहते हैं। आज पूनम की चाँदनी भी कुँवारी नहीं रही; इस पर भी धरती का राकेट पहुँच चुका है। वह बहार के मौसम की बात शुरू कर देते हैं; लेकिन इश्क़ की तरह इस की अवधि इतनी छोटी होती है कि कब तक इस से जी बहल सकता है। शादी तो गरमी-सरदी से करनी होती है। वह सुबह-शाम सैर करने को कहते हैं; लेकिन मेरा जवाब एक ही होता है कि अभी मैं स्वस्थ हूँ। एक-एक कर के वह उन सब साधनों को गिनवाते जाते हैं जिन में पैसे का सवाल नहीं उठता—जैसे बेकार की हाँकना जिन में अब सार नहीं रहा, निन्दा करना जिस में अब कला नहीं रही, मिलना-जुलना जिस में अब रस नहीं रहा।

यदि सारहीन और रसहीन साधनों से ही अब दिल बहलाना है तो बैठे-ठाले क़लम घसीटना क्या बुरा है! काग़ज़ और स्याही का ही तो खरच है। हास्य-व्यंग्यकारों की बही में नाम थोड़े ही दरज करवाना है कि इस का सूद चुकाता रहूँ। इस तरह के लिखने में न तो सोचना पड़ता है और न ही जोड़ना। इस के बारे में एक अपरिचित का जब यह पत्र मिला कि मुझे नहीं मालूम था कि छोटा मुँह भी बड़ी बात कर सकता है तो मेरा दिल न केवल बहल गया, खिल भी गया। इस पत्र को मैं शीशे में जड़वाने की सोच ही रहा था कि इतने में एक और पत्र मिला जिस में यह लिखा था कि बात में न तो वज़न होता है और न ही भाषा में संस्कार। इस का जवाब भी माँगा गया था। मैं ने पहले पत्र को सुरक्षित रखने का विचार तो तरक कर दिया और दोनों को रद्दी की टोकरी के हवाले करते हुए

यह जवाब दिया—"अकविता-अकहानी में न तो सार होता है और न ही भाषा का संस्कार। अनाटक का सवाल अभी-अभी पैदा हुआ है। नाटक के बाद ही अनाटक की रचना हो सकती है। यदि अकविता-अकहानी लिखी जा सकती है तो बैठे-ठाले क्यों नहीं?" यह लिख कर अनुभव किया मेरा जवाब उतना ही बेमानी है जितना उस का सवाल।

• • •

भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली, में मुद्रित